9 789380 441313

सामाजिक विवेक की शिक्षा ■ शिवरतन थानवी

सामाजिक विवेक की शिक्षा

शिवरतन थानवी

सामाजिक विवेक की शिक्षा

शिवरतन थानवी

वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर

वाग्देवी प्रकाशन
विनायक शिखर
पॉलिटेक्निक कॉलेज के पास
बीकानेर 334003
vagdevibooks@gmail.com
www.vagdevi.biz

सर्वाधिकार सुरक्षित

बिना प्रकाशक की लिखित अनुमति के इस पुस्तक को या इसके किसी भी अंश को इलेक्ट्रॉनिक अथवा मशीनी उपकरण, यथा कैमरा, फोटो कापियर, रिकॉर्डिंग आदि द्वारा या अन्य किसी भी माध्यम से किसी भी रूप में, कहीं भी प्रेषित, प्रस्तुत अथवा पुनरुत्पादित न किया जाए।

© शिवरतन थानवी

प्रथम संस्करण : 2015 ई.

मूल्य : दो सौ साठ रुपये मात्र

मुद्रक : सांखला प्रिंटर्स
शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

ISBN 978-93-80441-31-3

SAMAJIK VIVEK KI SHIKSHA (*Educating for Social Rationality) Essays*
by Shiv Ratan Thanvi

₹ 260

प्राक्कथन

यह पुस्तक पिछले कुछ वर्षों में समय-समय पर लिखे मेरे शिक्षा संबंधी कुछ वैचारिक लेखों का संग्रह है। इसमें एक लेख है 'सामाजिक विवेक की शिक्षा' और अन्य लेख भी शिक्षा संबंधी विभिन्न कोणों से समाज में विवेक को जगाने वाले हैं। हमें ऐसे मुद्दों की पहचान करनी चाहिए जो तर्क और विवेक की कसौटी पर कसे जाने की अपेक्षा रखते हैं। हमें ऐसे विषयों की टोह में रहना चाहिए जो सम-सामायिक विश्वासों पर पुनर्विचार का आधार बनते हों। शिक्षकों और माता-पिताओं के विचार का पहला विषय यही होना चाहिए कि हमारे लिए जानने और सीखने को कुछ और भी बाकी है। बड़े-बड़े ऊंचे विचार जिन्हें हम ऊंचा मानते हैं उन पर पुनर्विचार नहीं होगा तो हम जरूर भटक जाएंगे। भटकाने वालों की भी कमी नहीं है। शिक्षा संबंधी विषयों पर विचार-पुनर्विचार की प्रक्रिया जारी रहे तो भ्रान्तियां और भटकन जरूर दूर हो सकती हैं। हम शिक्षक हों चाहे शिक्षक-प्रशिक्षक या शिक्षाधिकारी, हम अभिभावक हों चाहे मन्त्री, नेता या जनप्रतिनिधि, यह तो लगातार सोचना ही होगा कि शिक्षा के बारे में हम जानते क्या हैं, हमें जानना क्या है और जानने के लिए हमने किया क्या है? ऐसा किए बिना न तो शैक्षिक चेतना का अकाल दूर होगा और न हमारा शिक्षा के अधिकार वाला नया कानून सफल होगा।

लगभग सभी लेखों में आपको कई स्थलों पर पढ़ने की आदतों और पुस्तकों का विशेष उल्लेख मिलेगा। कारण यह कि शिक्षकों में पढ़ने की आदत बहुत कम दिखाई देती है जबकि आवश्यकता यह है कि वे अधिक-से-अधिक पुस्तकें पढ़ा करें। अपने व्यवसाय से सम्बन्धित और अन्य भी। तभी वे कुशल और योग्य शिक्षक बन सकेंगे। यह पुस्तक उस दिशा में एक संकेत भर है। शिक्षा, साहित्य और अन्यान्य विषयों में पढ़ने की रुचि जितनी विस्तृत होगी उतने ही अधिक क्षमतावान, सार्थक और प्रभावकारी शिक्षक वे बन सकेंगे और विद्यार्थियों में भी पढ़ने की आदतों का निर्माण कर सकेंगे।

समान-से विषय पर किसी लेख में दोहराव हो सकता है लेकिन उनकी महत्ता के कारण पुनर्बलन की दृष्टि से उन्हें भी आवश्यक समझकर यहाँ शामिल कर लिया गया है?

मूल बात यह है कि शिक्षक पढ़ें, माता-पिता भी पढ़ें, किन्तु केवल पाठ्य-पुस्तकें या होमवर्क-क्लासवर्क की कापियाँ ही नहीं, कुछ शिक्षा सम्बन्धी साहित्य भी पढ़ें और अन्य ज्ञानवर्धक पुस्तकें व पत्र-पत्रिकाएँ भी रुचि रखकर पढ़ें तो शिक्षा-प्रणाली का सही विकास होगा। उस दिशा में आगे बढ़ने में शायद यह पुस्तक कुछ मदद कर सके।

इस संग्रह के लगभग सभी लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं जिनके लिए मैं हिन्दुस्तान, जनसत्ता, भास्कर, नवनीत, सेतु, शिविरा पत्रिका, नया शिक्षक/टीचर टुडे, खोजें और जानें, शिक्षा की बुनियाद, चौपाल वार्ता, शिक्षा विमर्श, दिनमान, सर्वनाम, विकल्प, वर्तमान साहित्य, गांधी मार्ग, अनौपचारिका और मरु गुलशन का आभारी हूँ।

इन लेखों के संग्रह की मैं हिम्मत जुटा पाया इसके लिए इस पुस्तक के मुद्रक-प्रकाशक श्री दीपचन्द सांखला का भी हृदय से आभारी हूँ। उनका आत्मीय आग्रह बहुत लम्बे समय से था।

यदि पाठकों को ये लेख पसन्द आएं और वे इनका लाभ उठा सकें तो मुझे प्रसन्नता होगी।

—शिवरतन थानवी

अनुक्रम

प्राक्कथन

शिक्षा, संवाद और जनतंत्र	9
शिक्षक और माँ-बाप गिजुभाई बनें तो	15
भारत में शिक्षा का भविष्य	31
सरकार शिक्षा की ढाल बने	37
पुराना पड़ चुका इल्म	44
शिक्षा, सहिष्णुता और प्रतिपक्ष	50
अनदेखा कैसे करेंगे : शिक्षक और शिक्षा-प्रशासन का सम्बन्ध	53
शिक्षक-प्रशिक्षण में बदलाव का समय	59
क्या जरूरत है बी-एड. की	66
कुंजियों और पासबुकों में बुराई क्या है	73
त्रुटि-सुधार का नया शास्त्र	77
सामाजिक विवेक की शिक्षा	83
शिक्षक-दिवस कैसे मनाएँ	89
सरकारी स्कूल में सरकार	94
कोचिंग की जरूरत पर सवाल	98
बाकी लोग जाओ	101
शिक्षा का अधिकार कानून	107
हम नाराज़-हम नाराज़	115
शिक्षा और विज्ञान ग्राम-विकास के लिए	118
शिक्षा बीमार क्यों है	134

डायरी लेखन से शिक्षा 144
जल जमुनाजी का पानी रे 148
'लोक जुम्बिश' अभियान 153
शिक्षा को जीवन से यों मत जोड़िये 158
शिक्षकों के निजी पुस्तकालय 163
बच्चों की शिक्षा और माता-पिता 165
अजेय मस्तिष्क, मानव मन और हम 168
अधूरे विश्वास, अंधविश्वास 170

शिक्षा, संवाद और जनतंत्र

विद्यार्थियों के विश्व भर में अनेक स्थानों पर आन्दोलन हुए हैं। इनका अध्ययन कर कुछ लोगों ने जो निष्कर्ष निकाले हैं उनमें एक यह भी है कि विद्यार्थी वर्ग में आत्मपीड़न (Masochistic) अथवा परपीड़न (Sadistic) की प्रवृत्ति प्रबल होती जा रही है और फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि आज का विद्यार्थी अपने ही जनक को अपनी असफलताओं और असन्तोष की आग का कारण या जनक मान कर जो कुछ भी पितृ-रूप नज़र आता है उसे पीड़ा पहुँचाने में या उसे समाप्त या स्वाहा करने में रस लेने लगता है या दूसरा कोई आलम्बन नहीं मिलता है तो स्वयं को ही विपदाओं की अग्नि में झोंककर आत्मपीड़न और अन्तर्दाह उत्पन्न करता है और कभी-कभी तो इतने आत्मघाती कदम उठा लेता है कि 'शहीद' बन जाता है।

जो 'शहीद' बनता है हम उसकी मूर्ति स्थापित करने और उसी भाँति आत्मघाती मार्ग पर चलते रहने की कसमें खाते हैं, प्रयत्न भी करते हैं और हम में फिर कभी कोई आत्मपीड़न अथवा परपीड़न का रसिक उत्पन्न होता है जो 'आत्मघात' की ओर पुनः हमारा नेतृत्व करता है। यह आत्मघात पुलिस की गोली से भी हो सकता है और दो दलों के बीच लड़ाई से भी हो सकता है और बार-बार फेल होकर, आर्थिक विपन्नता को या दिवालिएपन को न्योता देकर या और ऐसी ही कोई भारी हानि किसी भी दिशा से उठाकर यह शहीदी का 'सेहरा' सिर पर बाँधा जा सकता है। तब यदि वह जिन्दा है तो लोग जुलूस निकालते हैं और मर जाता है तो मूर्ति खड़ी करते हैं। यदि जनतन्त्र के नेताजी आर्थिक विपन्नता के कारण पौंड-पावना देने से इनकार करते हैं तो कोई उनसे माँगने की हिम्मत नहीं कर सकता, क्योंकि अब राज कानून का नहीं, नेताजी का है क्योंकि नेताजी 'हीरो' हो गए हैं और 'हीरो' के एक इशारे पर जन-धन को क्षति पहुँचा देना अनुयायी दल के लिए किंचित् भी कठिन काम नहीं है। जनतन्त्र में जन-जीवन की बागडोर उसी के हाथ में होती है जिसके पीछे जनमत है और जनमत तभी टिकाऊ होता है जब 'जन-राशि' का, 'जन-शक्ति' का प्रदर्शन किया जाए। इसलिए बिना टिकट सफर करने की बात हो, बिना पढ़े पास होने की इच्छा हो

या बिना मूल्य सड़क पर घेवर-बरफी, लड्डू-जलेबी या रसगुल्ले-रसमलाई के थाल लुटा कर कृष्ण-लीला करने की कामना हो तो तत्काल जन-शक्ति के प्रदर्शन से हमारे छात्र नहीं चूकते हैं। अकेला व्यक्ति अपराध करे तो दण्डित होता है, लेकिन 'जन' बनकर करे तो जनतन्त्र की ढाल काम आ जाती है। नुकसान जरूर होता है पर नुकसान के लिए उत्तरदायी कौन रहा? आन्दोलन करो और नारे लगाते हुए दुकानें लूट लो तो कोई अपराध नहीं सिद्ध होगा। अपराध सिद्ध करके पूरे समूह को भी सजा मिलने जैसी बात हो जाए तो और बड़ा समूह एकत्र करो, बड़े-बड़े नए बहाने ढूँढ़ो और उससे भी बड़े समूह के साथ स्थान-स्थान पर आग लगा दो, दंगे करा दो, तोड़-फोड़ मचा दो। कौन सजा दे सकता है इतने बड़े जन-बल को? यह 'जन-आन्दोलन' कहलायेगा और यह सब 'जनहित' में होता बताया जाएगा।

विद्यार्थियों और शिक्षकों को जनबल की इन लीलाओं का विश्लेषण करने के लिए कहना बेकार है क्योंकि स्वार्थवश वे इसे ही अपने उद्धार का एकमात्र मार्ग मान बैठे हैं। पर यदि उनमें से कोई भी विचार हेतु वक्त निकाल सकता हो तो उसे जरूर विश्लेषण करना चाहिए कि क्या जनतन्त्र की सफलता के लिए यह सब 'नरबलि' अनिवार्य है?

आग लगाकर, नुकसान पहुँचा कर या नुकसान पहुँचाने की धमकी देकर या धमकी का वातावरण उत्पन्न करके यदि किसी को हम हमारी बात मानने के लिए विवश करते हैं तो वह निश्चित ही हिंसा है। विवेकपूर्ण तर्क से यदि आप किसी को सहमत कर सकते हैं तो वह जनतन्त्र की आधारशिला मजबूत करता है, किन्तु यदि आप संवाद का रास्ता त्याग कर येन-केन-प्रकारेण 'हथिया लेने' का मार्ग अपना लेते हैं, तब वह जनतन्त्र कहाँ हुआ?

जुलूस निकलता है, चिल्लाना-चीखना होता है, हो-हुल्लड़ होता है और गगनभेदी नारे लगते हैं तो भी मैं इसे हिंसा नहीं कहूँगा क्योंकि स्वेच्छया इकट्ठे होकर अपनी बात संयुक्त रूप से कहने आने का या ज्ञापन देने का भी अवसर जितना कम आए, उतना ही हम अपने समूहगत कार्य को अधिक सफलता के साथ कर सकेंगे क्योंकि तब सद्भाव खण्डित नहीं होगा।

सद्भाव खण्डित हो गया तो शेष क्या रहा? हमने कह दिया 'अमुक-धमुक मुर्दाबाद'। अब क्या कहने को शेष रहा और क्या करने को शेष रहा?

यह जनतन्त्र नहीं है।

यह शिक्षा नहीं है।

जनतन्त्र की शिक्षा तो यह क़तई नहीं है।

विश्व भर के विद्यार्थियों के आन्दोलनों के जो विश्लेषण प्रायः देखने में आते हैं वे अधिकांशतया हमारे किसी काम के नहीं हैं। ऊपर प्रारम्भ में दिए गए मनोविश्लेषण का उदाहरण ही लीजिए। मैं इसे वाहियात मानता हूँ। हवा के साथ बहने की प्रवृत्ति हर चढ़ती उम्र के बालक में होती है। फैशनों का मजा भी जवानी में ही है। बूढ़े फैशन करेंगे तो जग-हँसाई होगी। किशोर या युवा-वर्ग के छात्रों में अहंकार विस्फोट एक जगह प्रारम्भ होगा तो बिजली की तरह सब जगह फैल जाएगा। काफी की लत लगेगी तो सभी को समेट लेगी। रैगिंग का राग चलेगा तो उसी सुर में आलाप लेने लगेंगे। यह कोई ऐसी बात नहीं है जिस पर व्यक्ति स्वयं काबू नहीं पा सकता। बुरा काम तो किसी को भी अच्छा नहीं लगता है किन्तु बराबरी वालों का समूह (Peer-group) जब हावी हो जाता है तब व्यक्ति का अपने पर वश नहीं रहता है। वह बुरी आदतें अपनाने को विवश हो जाता है और जनतन्त्र के नाम पर स्वयं भी जनतन्त्र की बलिवेदी पर चढ़ जाता है। इसे भी हमें 'नरबलि' में शुमार करना होगा क्योंकि जो कुछ वह कर रहा है वह विवश होकर कर रहा है। विवेक से व्यक्ति काम करे, स्वप्रेरणा से करे, ऐसा अवसर ही कहाँ रह पाता है। दुकानें बन्द कराई जाती हैं या की जाती हैं—यह बताने की आवश्यकता नहीं।

हमें हमारा स्वाभिमान प्यारा है लेकिन हमारे स्वाभिमान की रक्षा दूसरे के स्वाभिमान पर बलपूर्वक प्रभुत्व जमाने में हो तो हमारा स्वाभिमान कितने दिन तक सुरक्षित रह सकेगा?

हमें हमारे स्वार्थ की रक्षा के लिए संघर्ष करना जरूरी है, हमारे हितों की रक्षा और समृद्धि के लिए लड़ना हमारा अधिकार हो सकता है किन्तु जनबल के बहाव में अपने आपको छोड़ देने वाला 'जन' जनतन्त्र की रक्षा कर सकेगा, इसमें आप कैसे विश्वास करेंगे?

शिक्षा द्वारा सही जनतन्त्र की स्थापना के लिए और जनतन्त्र की सही शिक्षा के लिए हमें इन प्रश्नों पर कभी-न-कभी तो विचार करना ही होगा।

विद्यार्थि-वर्ग, शिक्षक-वर्ग और सामाजिक कार्यकर्ताओं को कभी-कभी भविष्य में भी झांककर अवश्य देख लेना चाहिए। आज के बालक कल किशोर होंगे, आज के युवा कल प्रौढ़ होंगे, क्या हम कल की सम्भावनाओं की रोशनी में वर्तमान पर दृष्टिपात नहीं कर सकते हैं?

शिक्षा-जगत् के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण विचार का प्रसंग है। शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता पर निरन्तर विचार होते रहना जरूरी है। शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन लाने की जिम्मेवारी जितनी शिक्षक की है उतनी ही शिक्षार्थी

की और समाज की भी है। किन्तु कोई प्रणाली हो, कोई तन्त्र हो, जिसको जो काम हम सौंपें उसे काम करने का अधिकार ही न दें तब प्रणाली कैसे चलेगी? हम चुनाव करें और किसी एक को नेता बनाएँ, यह तो जनतन्त्र है, लेकिन नेता बनाएँ उसे ही कार्य न करने दें और कदम-कदम पर उसका व उसके द्वारा बनाए कानून व प्रबन्ध का हाथ पकड़ लें तो वह प्रणाली का संचालन कैसे करेगा?

हर साल आप सुनते हैं कि अमुक विश्वविद्यालय बन्द हो गया—कभी विद्यार्थियों ने माँगें रख दीं और कभी शिक्षकों ने चक्का जाम कर दिया—किन्तु इससे लाभ क्या हुआ? किसी ने विवश होकर आपको तात्कालिक लाभ दे दिए और आप विजय के अभिमान से फूले नहीं समाये, लेकिन तब आपने विधानसभा क्यों बनाई और संसद क्यों बनाई? शिक्षक और शिक्षार्थी का ही पक्ष लें और कहें कि कोई ग़लती करता है तो रोकना हमारा अधिकार है, लेकिन ग़लती कैसी? हमारी अनसुनी, हमारे स्वार्थ को चोट—यही न? ग़लती वहीं होती है जहाँ कुछ ऐसा घटित होता है, जो कभी एक को और कभी अनेक को अप्रिय हो जाता है और जब संचालन का भार किसी को सौंपेंगे तब ऐसी सच्ची-झूठी सम्भावनाएँ तो रहेंगी ही। जिसे काम सौंपा है उसे नियत समय तक स्वविवेक से काम करने देना भी तो जनतन्त्र का ही तक़ाज़ा है। क्षण-क्षण में नेतृत्व बदलने का या नेतृत्व को श्रीहीन करने का हम ही प्रयत्न करेंगे तो हमारी किसी भी प्रणाली के संचालन का भार अपने कन्धों पर कौन लेगा?

विद्यार्थि-वर्ग को माता-पिता और समाज यह अवसर देते हैं कि वह धनोपार्जन की व अन्य सामाजिक दायित्वों की चिन्ताओं से मुक्त रह कर अध्ययन-चिन्तन-मनन द्वारा अपने जीवन-दर्शन का निर्माण करे। यह वक्त है जब उसे समय है, अवसर है। वह विचार करे। चिन्तन-मनन करे। अध्ययन-अनुशीलन करे।

विद्यार्थी विचार ही न करना चाहे, ऐसा तो शायद नहीं होगा। पश्चिम से तोड़-फोड़ के जो विचार आए हैं उन्हें बिना समझे-बूझे उनका अन्धानुकरण करने को उसका मन शायद ही कभी गवाही दे सके। संकट यही है कि चिन्तन-मनन का वातावरण लुप्त होता जा रहा है। राजनीति के प्रभाव में विद्यार्थी नहीं आएगा या न आए, ऐसी कामना मैं नहीं करता। विद्यार्थी विद्रोह न करे, आक्रोश व्यक्त न करे, यह प्रतिबन्ध लगाने का भी नुसख़ा मैं प्रस्तुत नहीं कर रहा हूँ। लेकिन वह जो कर रहा है वह क्यों कर रहा है और उसका उसके विद्याध्ययन में कोई उपयोगी आशय है या नहीं, यह विचार करने के लिए वह तैयार रहे, तो सही शिक्षा की ओर बढ़ने की सम्भावना अवश्य उत्पन्न हो सकती है। हम जानते हैं कि हमारा प्रत्येक आचरण हमारे इर्द-गिर्द वर्तमान में और सुदूर भविष्य में पूरे समाज पर

प्रभाव डालने वाली अनेक प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया करता है। एक-एक शब्द का, एक-एक क्रिया का अपना महत्त्व है। उस महत्त्व को पहचानें, वर्तमान व भविष्य की सम्भावित प्रतिक्रियाओं को यथा-समय समझें फिर जो कदम उठाएँ वह पूरे उत्तरदायित्व के साथ साहसपूर्वक उठाएँ, तो यह एक शिक्षित व्यक्तित्व का आचरण हुआ। टिकट की खिड़की पर आप क्यू में खड़े हैं, विनोद में ही सही, पर आगे धक्का आपने दिया तो जो धक्कों की लहर चलेगी और असहिष्णु लोगों की जो हाथा-पाई जूतम-पैज़ार होगी उसे फिर रोकना आपके वश में नहीं रहेगा। उचित तो यही है कि मनोभावों पर हम नियन्त्रण रखें और न स्वयं धक्का दें और न दूसरों के दिए धक्के को आगे तक़सीम करें। विचारवान व्यक्ति ऐसा कभी नहीं करेगा। और जहाँ विचारवान शिक्षक एवं विचारवान विद्यार्थी होंगे वहाँ साल में एक बार भी विद्याध्ययन में बाधा उत्पन्न नहीं हो सकेगी।

लेकिन यह सब थोड़ा कष्टदायक है। दूसरों के सुख के लिए कष्ट उठाएँ तो हमें भी सुख मिलेगा। दूसरों के विवेकवान होने तक हम विवेकहीन बने रहे तो विवेक हमारे किसी के भी द्वार पर कभी नहीं आएगा। शान्ति, सद्भाव और सहयोग हमें वहीं से प्रारम्भ कर देना होगा जहाँ हम अभी खड़े हैं। पूरे परिप्रेक्ष्य में देखिए, एक अंश देखने से काम नहीं चलेगा। सबको मिलकर यह मंजिल पूरी करनी है। मुसाफ़िर उतर-उतर कर मनमाने ढंग से प्लेटफार्म पर घूमते रहेंगे और जनतन्त्र की जय बोलकर गार्ड या ड्राइवर को अपना कार्य नहीं करने देंगे तो शिक्षा की गाड़ी अपनी मंजिल की ओर चल ही नहीं पाएगी।

फ्राँस में या कैलिफोर्निया में विद्यार्थियों ने जो किया, लोग उसमें कोई क्रान्ति का बीज ढूँढ़ते हैं या किसी पैटर्न की तलाश करते हैं तो किया करें, हम हमारे भविष्य को उनके फार्मूलों में ठूँस कर अपना उद्धार कभी नहीं कर सकेंगे। खिड़कियाँ हमने खुली रखी हैं, तो अच्छी-बुरी सभी हवाएँ आएँगी। आजू-बाजू से, आगे-पीछे से, कई धक्के लगेंगे, किन्तु अपनी परिस्थितियों को देखकर हमारा निर्णय हमें लेना है। हमें क्या अनुकूल प्रतीत होता है यह निर्णय लेने को भी क्या हम 'स्वतन्त्र' नहीं हैं?

प्रसिद्ध शिक्षक, शिक्षाविद् और शैक्षिक लेखक प्रो. एडगर डेल ठीक ही पूछा करते थे—तुम्हारा इंचार्ज कौन है? हमें यदि जनतन्त्र को सफल बनाना है तो हमें भी बार-बार पूछना ही होगा—हमारा इंचार्ज कौन है? हमारा चालक कौन है? वस्तुतः अच्छे विद्यार्थी और अच्छे शिक्षक होने की पहली शर्त ही यह है कि हमारे चालक हम स्वयं हों और हमें जो काम समूह ने, समाज ने, शासन ने या राष्ट्र ने सौंपा है वह हमें निर्विघ्न रूप से करने दिया जाए। काम करने वाले का यह अधिकार है, काम सौंपने वाले का यह उत्तरदायित्व है। और जनतन्त्रीय पद्धति

में विश्वास रखने वाले हर जिम्मेवार विद्यार्थी, शिक्षक व आम नागरिक का यह कर्तव्य है कि जनतन्त्र के सही स्वरूप की तलाश का प्रयत्न जारी रखे और आतंक की बजाय संवाद के माध्यम को सर्वोपरि स्थान दे। सह-संवेद्य वाणी के विकास से ही जनतन्त्र सबल हो सकता है। विश्व को विनाश से बचाना है तो जनतन्त्र की रक्षा के अलावा और कोई उपाय नहीं। क्षुद्र स्वार्थ केवल दूसरे छोड़ें, हम नहीं, या दूसरों के बाद हम छोड़ें, ऐसा हमने सोचा तो जनतन्त्र का नाम हम भले लेते रहें, हम एकतन्त्र के हाथ ही मज़बूत करते रहेंगे और तब जो टूटी-फूटी शिक्षा-प्रणाली आज हमारे हाथ में है वह भी शेष नहीं रहेगी।

शिक्षक और माँ-बाप गिजुभाई बनें तो

शिक्षक और माँ-बाप यदि अपने बालक-बालिकाओं तथा विद्यार्थियों के शैक्षिक विकास में रुचि रखते हों तो उन्हें शिक्षा और शिक्षण पर लगातार कुछ-न-कुछ पढ़ते रहना है। भले जासूसी उपन्यास ही पढ़ें, घटिया घासलेटी साहित्य ही पढ़ें! जो घटिया पढ़ेगा उसमें तो बढ़िया की तरफ बढ़ने की सम्भावना हो सकती है किन्तु जो धार्मिक ग्रन्थों का पाठ तोते की तरह करता रहेगा उसमें शायद ही ऊँचा उठने की सम्भावना होगी। शिक्षक का धर्म शिक्षा है। धार्मिक पाठ नित्यकर्म की तरह भले हो, स्वाध्याय उससे आगे है। गीता-पुराण-कुरान आदि धार्मिक ग्रन्थ भी स्वाध्याय का अंग हो सकते हैं बशर्ते आपका दिल-दिमाग परिपक्व हो गया हो, अन्यान्य ग्रन्थों का अनवरत अध्ययन करते रहना आपके स्वभाव में आ गया हो। धार्मिक ग्रन्थों को साहित्य की तरह आप पढ़ते हैं और ज्ञान की दृष्टि से विवेचना करते हैं तो मूढ़मति नहीं बनेंगे। अन्धविश्वासी कदापि न बनें। शिक्षक हैं तो आगे बढ़ें, आगे बढ़ने की दृष्टि से चिन्तनशील पाठक बनें। प्रगतिशील शिक्षक बनें।

जो पढ़ेगा वही तो पढ़ाएगा। जो पढ़ेगा नहीं वह क्या पढ़ाएगा? यह मामूली-सी बात शिक्षक और माँ-बाप याद रख लें तो उनका खुद का उद्धार हो जाएगा और खुद शिक्षा व समाज का भी उद्धार हो जाएगा। खुद शिक्षा का उद्धार भला कैसे होगा, ऐसी शंका किसी को हो सकती है, किन्तु इसकी भी इतनी अधिक कमी है कि शिक्षा की वर्तमान दशा पर विचार करने जो बैठेगा उसे तत्काल यह कमी ध्यान आ जाएगी। शिक्षा का ध्यान ही जो नहीं करेगा, जो यह जानने की तरफ कदम ही नहीं रखेगा कि शिक्षा आखिर होती क्या है, उसे तो कभी कुछ भी पता नहीं चलेगा, वह तो आँखें मूँदे पुस्तकें रटाता रहेगा और परीक्षा-परिणाम और पैसा दोनों प्राप्त करता चला जाएगा। पैसा और परीक्षा-परिणाम दोनों चाहिए, माना, लेकिन तब जब आप सही राह पर हों। इस सही राह को समझने के लिए दो घड़ी रुक कर हम सोचें कि हमें क्या करना चाहिए था और हम क्या कर रहे हैं, चरित्र और व्यक्तित्व की ओर भी कोई ध्यान दिया है या नहीं।

पढ़ना एक तरह का नहीं होता। राम का नाम हजार बार बोलने, जाप करने, या लिखने से राम नहीं मिल जाता। कबीर-नानक से कुछ तो सीखें हम! गीता-

रामायण या कुरान-पुराण तोते की तरह रटने से मनुष्य मनुष्य नहीं बन जाता। तोते की तरह रटकर परीक्षाएँ पास करने वाले और बी.एड./एम.एड. भी करने वाले और पीएच.डी./डी.लिट्. या आलिम-फ़ाज़िल भी करने वाले शिक्षक कई होते हैं। सच्चा शिक्षक बनने की इच्छा यदि आप रखते हैं तो रटाई के बाद की पढ़ाई पर भी जरूर ध्यान देना होगा।

क्या आप जानते हैं आजकल हिन्दी में या अंग्रेजी में या किसी भी अन्य भारतीय भाषा में कौन शिक्षा पर गम्भीरता और गहराई से लिखते हैं? क्या आपने कृष्णकुमार, दयालचन्द्र सोनी, सुरेश पण्डित, अनिल सद्गोपाल, अरविन्द गुप्ता, डॉ. ललित किशोर, रामनरेश सोनी और रमेश थानवी या धर्मपाल को पढ़ा है? अंग्रेजी के जॉन डीवी, मारिया मोंतेस्सोरी, गुजराती के गिजुभाई को मूल या अनुवाद में पढ़ा है? शिक्षा और सामान्य ज्ञान भी खूब पढ़ें किन्तु अपने कक्षा-शिक्षण के विषय पर भी अधुनातन लेखन की खोज जारी रखें। पढ़ते रहें।

शिक्षक क्या पढ़ें, क्यों पढ़ें, यह एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय है। पढ़ने की आदत हो तो कई प्रकार से लाभकारी है। पढ़ने की आदत ही नहीं हो तो शिक्षक क्या प्राप्त करेगा और क्या देगा? देने की जरूरत शिक्षक को जब-जब भी होती है वह टुकुर-टुकुर देखता रहता है। वर्तनी नहीं जानता। शब्द भण्डार नहीं। अपने विषय का पूरा ज्ञान नहीं। दुनिया का हाल उसने जाना नहीं। सामान्य ज्ञान की फ़िक्र उसने की नहीं। समाज के बनते-बिगड़ते स्वरूप पर नज़र उसने रखी नहीं। देश के आर्थिक-सामाजिक विकास का ताना-बाना उसने समझा नहीं। पिछला इतिहास कैसे बना है और आगे का इतिहास बनाने को हमें क्या करना है, इस पर क्षण भर भी सोचा नहीं। तो ऐसी स्थिति में शिक्षक की किसी भी विषय में कोई राय नहीं हो सकती। किसी भी चर्चा में वह सम्मिलित नहीं हो सकता।

शिक्षक की जिम्मेवारी बड़ी है। समाज सुधार भी उसका धर्म है और व्यक्ति का चरित्र व व्यक्तित्व भी उसका धर्म है। वह सोचे कि उसकी जिम्मेवारी क्या है, कितनी बड़ी है, कितनी विस्तृत है। वह सोचे। सोचेगा तो ही जानेगा। कब सोचेगा? कैसे सोचेगा? सोचने का उत्प्रेरक कौन होगा और सोचने का आधार क्या होगा? धर्म कहो, उत्तरदायित्व कहो, चाहे जिम्मेवारी कहो। कुछ ऐसा है जो हमें आगे बढ़ाता है और सही दिशा दिखाता है।

उत्प्रेरणा मिलती है सत्साहित्य के स्वाध्याय से। कोई वक्त था जब वेद-शास्त्र, कुरान-पुराण पढ़ने से स्वाध्याय हो जाता था। सन्ध्या वन्दन करने से या पाँच बार नमाज़ पढ़ने से या पण्डित-पादरी-मौलवी का प्रवचन सुनने से सही दिशा और स्वधर्म का ज्ञान मिल जाता था। अब वह समय नहीं रहा। समय हमें बदलता है, हम समय को बदलते हैं। वक्त था जब पण्डित सिखाते थे विदेश

जाना अधर्म है, आज पण्डितों में होड़ मची है विदेशों में अपने-अपने आश्रम खोलने की और वहां शिष्यों की अधिक-से-अधिक संख्या प्राप्त करने की। वहाँ जाति का भेद नहीं है, यहाँ दलित को प्रवेश नहीं है। 'हरे कृष्ण हरे राम' के जनक प्रभुपाद स्वामी रूस-अमेरिका समेत अनेक देशों में छाए हैं। मंगोलिया, तजाकिस्तान और चीन में उनका प्रभाव फैल गया है। जे. कृष्णमूर्ति, मुरारी बापू, रामदेव, गुरु मां, कृपालुजी आदि और भी कितने ही साधु-महात्माओं का बाहर प्रभाव है। स्पष्ट है कि मात्र धार्मिक शिक्षकों पर निर्भर रहे तो आप घाटे में रहेंगे। आपको अपने अध्ययन का दायरा धर्म-निरपेक्षता (या कहें पंथ-निरपेक्ष अर्थात् सेकुलर) तक भी जरूर बढ़ाना है। ज्ञान की सीमाएँ संकुचित रखनी ही नहीं हैं। नितान्त उन्मुक्त रहना है। रुचियाँ भी बढ़ानी हैं और पढ़ने की आदत भी बढ़ानी है। आदत हममें कितनी है हम यह देखें, क्या-क्या पढ़ना हमें पसन्द है हम यह भी देखें। पढ़ना हमें अच्छा लगता है भी कि नहीं, इस पर सबसे पहले ध्यान दें। शिक्षक हैं तो इतना तो करना ही पड़ेगा।

गन्ने का रस बेचने वाला क्या तैयारी करता है इसकी कल्पना करें। पान बेचने वाला कितनी-कितनी बातों पर ध्यान देता है इसकी कल्पना करें। कोई भी काम-धन्धे वाला क्यों न हो, अपनी दुकान—अपनी मशीन खोलने से पहले हर उस बात पर ध्यान देता है जो उस दुकान—उस मशीन के सुचारु संचालन में आवश्यक है। हमारे शिक्षक को अपने काम-धन्धे का सुचारु संचालन करना हो तो उसे किन-किन बातों पर अग्रिम ध्यान देना चाहिए यह सोचा जाए तो क्या कोई बुराई है? क्या ऐसा करना हमारा धर्म नहीं है?

धार्मिक होना इस अर्थ में बुरा नहीं है। शिक्षक होने के लिए स्वाध्याय की पहली तैयारी यही है कि हम धर्म और अध्यात्म के परम्परागत-रूढ़िवादी रूप से आगे चलें। शिक्षक आगे चलता है। शिक्षक सदैव प्रगतिशील होता है, तरक्की-पसन्द होता है। वादों से बचता है किन्तु 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोध' का सूत्र हरदम साथ रखता है। किसी वाद से डरना नहीं है। किन्तु जो वाद रसातल को ले जाता हो उसकी पहचान जरूर कर लेनी है। स्वाध्याय का सर्वोपरि लक्ष्य यही होना चाहिए।

पहचान आपको उनकी करनी है जो आपको प्रिय हैं या होने उचित हैं, और पहचान आपको उनकी करनी है जो त्याज्य हैं। 'पांचजन्य', 'राष्ट्रधर्म' या 'आर्गेनाइजर' आपको प्रिय हैं तो आप उन्हें शौक से पढ़ें किन्तु 'इकॉनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली', 'सेमिनार', 'मेनस्ट्रीम', 'हंस', 'वाक्', 'बया', 'कथादेश', 'पहल', 'पल प्रतिपल' और 'मूलप्रश्न' जैसे गम्भीर वैचारिक पत्र-पत्रिकाओं में से भी कुछ का गहन एवं नियमित अध्ययन जारी रखें। बिन्दी, त्रिपुण्ड्र, तिलक लगाने

से या दाढ़ी-मूंछ और चोटी रखने से या नाम के आगे डिग्रियों की कतार लगाने से या धोती-पाजामा, टोपी-पगड़ी या अन्य कोई कपड़े कम-ज्यादा पहनने से पहचान कराना कितना उचित है इस पर विचार करें। जातियों पर बल देकर किसी जाति विशेष को श्रेष्ठ बताना कितना उचित है इस पर भी विचार करें। स्वाध्याय का मतलब केवल किताबें पढ़ना या पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ना ही नहीं होता है। स्वाध्याय का मतलब खुद के स्वभाव पर भी ध्यान देना होता है। स्वाध्याय का मतलब परिवेश को देखना-समझना भी होता है। खुद को देखिए और पूरे पर्यावरण तथा दुनिया को देखिए और सोचिए कि श्रेय क्या है? उन्नति इसमें है कि उसमें है? अध्यात्म का नाम तो लोग बहुत लेते हैं और धर्म का नाम भी लोग बहुत लेते हैं किन्तु किसकी आत्मा में झाँकना है इसका उन्हें कोई पता नहीं होता और कौन-सा धर्म उनका धर्म है, स्वधर्म है, यह वे कभी समझने का यत्न करते ही नहीं।

पहले श्रेय का प्रश्न लें। हमारे कुछ शिक्षक मित्र हैं, हम उन्हें दूर गाँव-शहर की स्कूलों से लाए थे। उनकी अंग्रेजी-हिन्दी बहुत अच्छी है। वे शिक्षा में ऊँची उपाधियाँ धारण किए हुए हैं। हमने उन्हें एक ऐसे पद के योग्य माना जहाँ स्वाध्याय का खूब मौका था, पत्र-पत्रिकाओं के अम्बार थे, जो चाहो वह पुस्तक प्राप्त करने की छूट थी किन्तु किसी ने कहीं जाना लाभप्रद माना और किसी ने कहीं। पढ़ने की पूर्णकालिक प्रचुर स्वतन्त्रता-सुविधा वाली उस जगह रहना पसन्द नहीं किया। दूसरे शिक्षक हिन्दी साहित्य, समाज, राजनीति, सभी के अच्छे ज्ञाता, कवि और विद्वान् हैं, हमने उन्हें भी योग्य माना, पर वे बोले, 'मेरा घर छात्रों से भरा रहता है, महीने का पन्द्रह-बीस हजार कमाता हूँ, क्या करूँगा यहाँ आ कर!' वे भी लाभ देखते थे, हम भी लाभ देखते थे। वे पास का लाभ देख रहे थे, हम दूर का लाभ देख रहे थे। उनकी नज़रों में एक अकेले वे स्वयं थे, हमारी नज़रों में हजारों हजार लोग थे। लेकिन अभिवृत्ति पास देखने की हो तो दूर का कैसे नज़र आएगा?

ऐसे-ऐसे अनुभव हों तो सोचिए कि शिक्षकों का श्रेय क्या है, प्रेय क्या है, उनका जीवनमूल्य क्या है? ये उदाहरण देख कर सीखने को कुछ मिलता है तो हम सीखें।

मेरे एक पड़ोसी शिक्षक हैं। बनियान नहीं पहनते, घिस जाएगा। बाहर निकलते हैं तो पहन लेते हैं, किन्तु कमीज कन्धे पर डाल लेते हैं, मैला न हो जाए और साबुन व्यय न हो जाए इस भाव से। इस भाव से लाखों जमा कर लिए हैं। आप गहने आदि गिरवी रख ब्याज पर ले जाएँ तो लाख-दो लाख ही नहीं पाँच लाख भी दे देंगे किन्तु उनके जिस पुत्र-पुत्री ने उनकी गम्भीर बीमारी में तन तोड़ कर सेवा की थी उन्हें काम पड़ने पर सौ-पाँच सौ रुपये भी बिना गिरवी उधार नहीं देंगे; ब्याज पर भी नहीं। न पुस्तक खरीदते हैं और न कोई पत्रिका।

आप देखिए। ऐसे जितने उदाहरण मिलें ध्यान से देखिए। आपको सीखने-समझने को बहुत मिलेगा। आप खुद को देखना और समझना, सम्हलना और जानना सीख जाएँगे। आपने कई ऐसे शिक्षक देखे होंगे जो न हिन्दी जानते हैं न अंग्रेजी, न देश जानते हैं न दुनिया, पर काम चलाते हैं। तनख्वाह पाते हैं और रिटायर हो कर पेंशन के हकदार हो जाते हैं। जितना जाना, जितना पढ़ाया, वही अच्छा। अधिक की आशा उनसे करो भी तो क्या फायदा? आशा उनसे की जाती है जो बदल सकते हैं, जो सोच सकते हैं और सोच कर जो अपने जीवन में बदलाव भी ला सकते हैं। आप उनमें हैं तो अवश्य पढ़िए, पढ़ने की आदत डालिए।

हमारा स्वाध्याय बदलाव के लिए ही तो होता है। दूसरों को देखते हैं तो बदलते हैं, खुद को देखते हैं तो बदलते हैं। पुस्तकों के माध्यम से अपने भीतर झाँकना भी सीखते हैं। अन्तर्दृष्टि प्राप्त करते हैं। पुस्तकों के माध्यम से अतीत में झाँकते हैं, दूर-दूर तक देखते हैं तो बदलते हैं। देखते हैं तो बदलते जरूर हैं। परन्तु देखें तभी न! खुद को और दुनिया को देखने की फुरसत निकालें तब न! क्या पढ़ा, कैसा पढ़ा और क्या निचोड़ निकाला यह आप जानें। जैसा निचोड़ निकालेंगे वैसा ही आपका जीवन-दर्शन बनेगा, वैसा ही आपका शिक्षा-दर्शन बनेगा।

एक प्रधानाचार्य थे। ईमानदार थे, निष्ठावान थे। लेकिन विद्यालय में जो विचित्र बातें वे कभी-कभी कर दिया करते थे उन्हें आप देखते तो जरूर तय करते कि आप वैसा नहीं करेंगे। उनको ही क्या, कई अन्य संस्थाप्रधानों को भी अपनी स्कूलें फौजी मानदण्डों से चलाना आदर्श लगता है। उन्हें भी लगता था। वे ऐसा ही पढ़े थे। कहते थे—लाइन में चलो। एक कक्षा से दूसरी कक्षा में जाना हो, पुस्तकालय पीरियड में पुस्तकालय जाना हो, या व्यायाम के पीरियड में व्यायाम में जाना हो, हर कक्षा के छात्र को लाइन में जाना अनिवार्य था। किस्सा यह प्रसिद्ध हुआ कि जो लाइन में नहीं होता उसे वे डण्डा मार दिया करते थे। एक छोटा-सा डण्डा हरदम उनके हाथ में रहा करता था। मान लो उनका नाम था माखनराम। एक दिन एक छात्र मिला अकेला। उसको भी डण्डा जड़ दिया, और कहा—लाइन में चलो। लड़का बोला—सर, अकेला हूँ, कैसे लाइन में चलूँ? माखनराम तो माखनराम। अब कह दिया तो कह दिया, डण्डा जड़ दिया तो जड़ दिया। तत्काल बोले—अकेला है तो क्या हुआ, माखनराम की स्कूल में पढ़ना है तो लाइन में चलना पड़ेगा।

फौजी अनुशासन का नशा चढ़ जाता है तो कभी-कभी यों सीमाएँ भी तोड़ डालता है। उनका एक किस्सा इससे भी दो कदम आगे का है। उन्हीं के स्कूल का एक अध्यापक एक दिन स्कूल के बरामदे में अपनी क्लास लेने जा रहा था। कक्षा में पढ़ाने की कोई बात दिमाग में होगी, सिर नीचे था, माखनरामजी के आने

का ध्यान नहीं रहा। माखनरामजी के दिमाग में अनुशासन ही अनुशासन घूम रहा होगा। उन्होंने भी नहीं देखा कि शिक्षक है कि शिक्षार्थी। डण्डा जड़ दिया। दोनों ने नज़रें उठाईं, परस्पर देखा और हँस पड़े।

माखनरामजी ने समय की पाबन्दी का अनुशासन भी पूरी कठोरता से लागू करने की ठानी। प्रार्थना से पहले स्कूल का फाटक बन्द करवा देते। प्रार्थना के बाद फाटक खुलवाते और फाटक पर स्वयं डण्डा लेकर खड़े हो जाते। विलम्ब से आने वाले हर छात्र का नाम पूछते, कक्षा पूछते और जाँघ पर डण्डा मारते जाते। यह उनका रोज का क्रम था। यूनीफॉर्म भी देखते। जो यूनीफॉर्म में न होता उसे एक डण्डा अतिरिक्त प्राप्त होता। कुछ छात्रों को उन्होंने विलम्ब से व बिना यूनीफॉर्म कई बार देख लिया। एक-दो बार धमकाया कि अब ऐसा किया तो तुम्हारी हजामत कर दूँगा। और एक दिन तो सचमुच ही यह कर दिखाया। बड़ी कैंची मँगवाई और विलम्ब या बिना यूनीफॉर्म जो लम्बे समय से आ रहे थे उनके सिर के बाल ऐसे टेढ़े-मेढ़े काट दिए कि मारे शर्म के वे कई दिनों या कई महीनों घरों में दुबके पड़े रहे। केवल वे ही अगले दिन स्कूल आए जो जीरो मशीन से सिर घुटवा कर समय पर यूनीफॉर्म में आने का साहस कर सके थे। यह परिणाम था प्रधानाचार्य के अधूरे व कच्चे शिक्षा-दर्शन का। प्रशिक्षण के बाद तो उन्होंने कोई किताब छुई ही नहीं होगी। सत्संग में जाते थे और घर में 'कल्याण' के सिवा न कोई किताब थी न कोई पत्रिका। हो गया कल्याण। मोंटेसरी उन्होंने पढ़ी तो थी पर पचाई नहीं थी। मोंटेसरी के बाद न गिजुभाई पढ़ा था और न जॉन होल्ट, न डेनीसन और न कोजोल। शिक्षक के लिए यह परीक्षा की घड़ी होती है। बहुत कठिन है इस तरह की परिस्थिति में धीरज रखना, और शान्ति से कदम उठाना। मोंटेसरी ने बाल-शिक्षण के विषय में लिखा वह थोड़ा-सा आपने प्रशिक्षण विद्यालयों-महाविद्यालयों में पढ़ा होगा किन्तु आप यह भी सोचिए कि अपने शिक्षकीय जीवनकाल में मोंटेसरी जैसा कोई बाल-शिक्षण प्रक्रिया की बारीकियों और आवश्यकताओं को समझाने वाला गिजुभाई, जॉन होल्ट, डेनीसन, जोनाथन कोजोल, तेत्सुको कुरोयानागी और माकीगुची जैसा कोई अन्य शैक्षिक लेखक पढ़ा है? गांधी, विनोबा, गिजुभाई, टैगोर, जॉन डीवी, बी.एफ. स्किनर, ए.एस. नील, दयालचन्द्र सोनी आदि का कुछ पढ़ा है? पूरा मोंटेसरी, पूरा गिजुभाई, पूरा जॉन हॉल्ट व पूरा कृष्णकुमार साहित्य अपने निजी पुस्तकालय में रखिए।

राजलदेसर की मोंटेसरी बाल-शिक्षण समिति के भाई कुन्दनमल बैद ने काशिनाथजी त्रिवेदी और रामनरेशजी सोनी से गुजरात के महान् शिक्षाविद् स्व. गिजुभाई बधेका-रचित सारा शिक्षा साहित्य गुजराती से हिन्दी में अनुवाद करवा

कर करीब पचीस वर्ष पूर्व प्रकाशित कर दिया था जो अब वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर से भी पुनः प्रकाशित है। हर शिक्षक के लिए गिजुभाई की हर पुस्तक शिक्षा की समझ और शिक्षण विधियों की दृष्टि से बार-बार पढ़ने योग्य है। कालजयी शिक्षा-साहित्य है यह। गिजुभाई का 'दिवास्वप्न' कहने को उपन्यास भी है पर वस्तुतः यह स्वयं गिजुभाई की आत्मकथा-जीवनकथा मान कर भी पढ़ा जा सकता है। इसे नेशनल बुक ट्रस्ट ने भी प्रकाशित किया है और नया शिक्षक ने भी प्रकाशित किया था और शिविरा ने कार्टूनों में भी प्रकाशित किया था। हर शिक्षक के सिरहाने रखने योग्य पुस्तक है यह। इसी श्रेणी की एक और पुस्तक है 'तोत्तोचान', जिसे भी नेशनल बुक ट्रस्ट ने प्रकाशित किया है। वह भी जापान की एक महान् शिक्षाविद् तेत्सुको कुरोयानागी की आत्मकथा-जीवनकथा-सी है उपन्यास रूप में और विश्व की 60 से ज्यादा भाषाओं में अनूदित हो चुकी है। इसे 'अनौपचारिका' (जयपुर) ने शृंखलाबद्ध प्रकाशित किया था, जिससे प्रेरणा ले कर पलाश (भोपाल) ने एक ही अंक में पूरा प्रकाशित कर दिया था। शिविरा ने 'पलाश' के उस अंक पर एक बड़ा समीक्षात्मक निबन्ध लिख इस ऐतिहासिक घटना से पाठकों को परिचित कराया था जिसे शिक्षकों के लिए अत्यन्त लाभकारी मान 'पलाश' ने अपने पाठकों के लिए शिविरा के उस समीक्षात्मक निबन्ध को भी पुनः प्रकाशित कर दिया था। इतनी रोचक है यह पुस्तक, इतना रोचक था इस पर लिखा शिविरा का समीक्षात्मक निबन्ध।

गिजुभाई ने शिक्षकों और माता-पिताओं दोनों को ध्यान में रखा है। बाल-साहित्य भी खूब लिखा। बच्चों के लिए कहानियाँ लिखीं, कविताएँ लिखीं और नाटक भी लिखे। शिक्षकों व माता-पिताओं के लिए लिखा तब भी कथा शैली पर अधिक बल दिया। 'दिवास्वप्न' के आमुख (दो शब्द) में उन्होंने लिखा—'मुझको किसी ने कहा कि भारी-भरकम तात्त्विक लेखों के बजाय यदि मैं कथा-शैली में शैक्षिक विचारों को संजोऊँ तो? मुझको प्रयत्न करने की प्रेरणा मिली और फलस्वरूप यह 'दिवास्वप्न' रचा गया।' शैक्षिक विचारों का उनका भण्डार बहुत बड़ा है। उन्होंने कुल 223 पुस्तकें लिखी हैं। राजलदेसर ने चुन कर 15 (पन्द्रह) प्रकाशित की हैं, जिन्हें हम शिक्षा और शिक्षण विधियों पर उनका निचोड़ मान कर शिक्षकों के निजी साहित्य के लिए उनकी संस्तुति करते हैं। वे कहा करते थे, 'जब तक बालक घरों में मार खाते हैं, गलियों में दुर्गन्ध खाते हैं और विद्यालयों में गालियाँ खाते हैं, तब तक मुझको चैन कैसे पड़े?.... जब तक बालकों के लिए जगह-जगह विद्यालय न बनें, वाचनालय न बनें, क्रीडांगन न बनें, नाटक न बनें, सिनेमा न बनें, तब तक मुझको चैन कैसे पड़े? जब तक एक भी बालक असम्मानित है, अस्पृश्य है, बीमार है, गन्दा है और अव्यवस्थित है, तब तक मुझे

चैन कैसे पड़े? हे भगवन्! हम को शक्ति दीजिए कि हम अपने इन मनोरथों को पूरा कर पाएँ!'

आज श्रीनाथजी की भक्ति करने वाले लोग 'हवेली' नाम के श्रीकृष्ण मन्दिर में 'मनोरथ' नाम का अनुष्ठान करवा के, छप्पन भोग लगा के, 'मधुराधिपतेरखिलंमधुरं' की परम्परा निर्वाह करते हुए हजारों-लाखों रुपए की मिठाई का प्रसाद बँटवाते दिखाई दे जाएँगे किन्तु 'गिजुभाई ग्रन्थमाला' में शिक्षकों व माता-पिताओं के हितार्थ गिजुभाई की जितनी पुस्तकें मोंटेसरी बाल-शिक्षण समिति, राजलदेसर से भाई कुन्दनमल बैद और उनके साथियों ने छपवा कर मामूली मूल्य में बँटवाईं वैसा कोई काम कोई जाति-धर्म का 'धार्मिक' प्राणी करता शायद ही कहीं नज़र आएगा। एक आदमी याद आता है। गुजराती काट का पुराना सा सूती कोट पहने, काले फ्रेम का गोल चश्मा चढ़ाए सत्तर-अस्सी की उम्र के भाई हिम्मतलाल पारीख हर साहित्यिक-सांस्कृतिक सभा के समाप्त होने पर बीकानेर के आदर्श-निकेतन के द्वार पर गिजुभाई की 'बाल-दर्शन' नाम की पुस्तक निःशुल्क बाँटा करते थे। पिता की आदत पाली पुत्र ने। पुत्र दिलीपभाई पारीख आज भी पिता की राह पर चलते हुए आपको किसी भी साहित्यिक-शैक्षिक-सांस्कृतिक सभा के अन्त में द्वार पर 'भगवद्गीता का मर्म', या 'रामायण का मर्म' या 'उपनिषद् का अमृत' निःशुल्क बाँटते हुए बीकानेर में नज़र आ जाएँगे। पिता की स्मृति में पुत्र ने ट्रस्ट कायम कर दिया है समाज में पढ़ने की प्रवृत्ति को बढ़ाने के लिए। खुद ये शिक्षाप्रद पुस्तकें छपवाते हैं और पढ़ना चाहने वालों को बिना मूल्य बाँटा करते हैं। हिम्मतलाल पारीख स्मृति ट्रस्ट, कोटगेट, बीकानेर की यह समाज सेवा अनमोल है। जयपुर के मास्टर मोतीलालजी खुद एक अनमोल पुस्तकालय थे। घर-घर जाकर पुस्तकें दे आते थे, पढ़ी पुस्तकें ले आते थे। जीवन भर वे अपने पैसों से यह सेवा करते रहे। उनके इस चलते-फिरते पुस्तकालय की प्रशंसा देश के उच्चतम पुस्तकालयाध्यक्षों ने की है, जयपुर के अनेक प्रतिष्ठित लोगों ने की है। ऐसा आदर्श पुस्तक-प्रेमी शिक्षक हर गली-मोहल्ले में, हर गाँव-शहर में होता रहे तो कितना अच्छा! जयपुर के सेठी नगर (सेठी कॉलोनी!) में उनकी स्मृति में आज भी 'श्री सन्मति पुस्तकालय' एक विशाल भवन में चलाया जा रहा है। जयपुर प्रिण्टर्स के संस्थापक सोहनलालजी जैन इस पुस्तकालय के निर्माण में बराबर रुचि लिया करते थे और शिक्षकों की प्रेरणा के लिए मास्टर मोतीलालजी की जीवनी भी प्रकाशित की थी, जो वे निःशुल्क बाँटा करते थे। शिक्षा-साहित्य के लेखन प्रकाशन में भारतीय विद्या भवन तथा राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर का भी कम योगदान नहीं है। एक अकेला व्यक्ति कैसे चलती-फिरती शिक्षा-संस्था बना यह उदाहरण उदयपुर के विद्यामार्ग पर स्व. दयालचन्द्र सोनी के रूप में देखा

जा सकता है। 'अनौपचारिक शिक्षा : संकल्पना और दिशाएँ', 'स्वराज की प्रौढ़ शिक्षा : लोकानुशासन', 'शिक्षांजलि', 'वर्तमान प्रौढ़ शिक्षा की चुनौती', 'नारी महिमा मंजरी' और 'गीता की जीवन विद्या' आदि दयालचन्द्रजी सोनी की पुस्तकें जिन पाठकों ने न पढ़ी-सुनी हों या जिन्होंने उनके आद्यन्त शिक्षामय जीवन का परिचय न पाया हो, उनके विचार न जाने हों, वे अनौपचारिका (मासिक, जयपुर) का जुलाई 2008 अंक जरूर पढ़ें। वहाँ माड़साब दयालजी का जीवन भी मिलेगा और उनकी पुस्तकों का परिचय भी मिलेगा।

मुझे तो यही अच्छा लगा कि स्कूल के विद्यार्थी हों चाहे कोई और अंग हों, शिक्षकों को ऐसी बारीक दृष्टि से ऐसे-ऐसे अध्ययन करने चाहिए और ऐसे रोचक तरीके से अपने अनुभवों को लिखना चाहिए। और हिम्मतलाल पारीख तथा दिलीपभाई पारीख की तरह अन्य तमाम धर्मप्राण बन्धुओं को मधुर मिठाइयों का प्रसाद 'मनोरथ' में बाँटने की बजाय भगवान के भक्तों को अर्थात् माता-पिताओं व शिक्षकों को ऐसी उत्तम पुस्तकें निःशुल्क बाँटनी चाहिए।

हमारे धर्मप्राण बन्धु यह नहीं जानते हैं कि असली धर्म तो शिक्षा ही है। पहले माता-पिता की शिक्षा फिर बच्चे-बच्चियों की शिक्षा। बच्चे-बच्चियों की शिक्षा के लिए भी हम पढ़ें और हमारी अपनी शिक्षा के लिए भी हम पढ़ें। हम जितना भी पढ़े हैं वह कम है। पाँचवीं पढ़े हैं चाहे पहली पढ़े हैं, बी.एड.-एम.एड. किए हैं चाहे पीएच.डी.-डी. लिट्. किए हैं या आलिम-फ़ाज़िल हुए हैं, प्राथमिक विद्यालय में पढ़ाते हैं चाहे शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय में पढ़ाते हैं, पढ़ेंगे तो तत्काल ज्ञात होगा कि हम तो कुछ भी नहीं जानते। पढ़कर देखिए नॉर्मन हचिंज की 'लर्निंग सोसायटी', पावलो फ्रेरे की 'पेडेगॉजी ऑव् द ऑप्रेस्ड', जॉन होल्ट की 'हाउ चिल्ड्रन फेल' तथा 'हाउ चिल्ड्रन लर्न', कृष्णकुमार की 'राज समाज और शिक्षा' तथा 'विचार का डर' या 'शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व', 'शान्ति का सफर', 'मेरा देश तुम्हारा देश' और राजलदेसर की मोंटेसरी बाल-शिक्षण समिति से प्रकाशित गिजुभाई के 'दिवास्वप्न', 'मोंटेसरी पद्धति भाग 1 व 2', 'माता-पिता से', 'माँ-बाप बनना कठिन है', 'माँ-बापों की माथा-पच्ची', 'माता-पिता के प्रश्न', 'कथा-कहानी शास्त्र भाग 1 व 2' आदि; और 'ग्रन्थशिल्पी' दिल्ली से प्रकाशित पावलो फ्रेरे की 'उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र', सिल्विया एश्टन वार्नर की 'अध्यापक', जॉर्ज डेनीसन की 'बच्चों का जीवन', जोनाथन कोजोल की 'क्रान्ति की बारहखड़ी', बीट्रिस एवॉलास (सम्पा.) की 'गरीब बच्चों की शिक्षा'; 'वाग्देवी प्रकाशन' बीकानेर से प्रकाशित नन्दकिशोर आचार्य की 'आधुनिक विचार और शिक्षा' तथा दयालचन्द्र सोनी की 'अनौपचारिक शिक्षा : संकल्पना और दिशाएँ'। एक और बहुत अच्छी पठनीय पुस्तक है राजस्थान के महान्

शिक्षाविद् प्रो. वी.वी. जॉन के बहुमूल्य विचारों का संग्रह 'अ मैन कॉल्ड जॉन' (प्रकाशक—वी.एस. जॉर्ज, 53 स्टर्लिंग रोड, चेन्नई 600034)। इतनी अच्छी अंग्रेजी, इतना गहरा विश्व साहित्य का ज्ञान और इतने ऊँचे शिक्षा के विचार व देश-दुनिया के विचार मिलेंगे इसमें आपको कि जरूर आप इसे अपने पास रखना चाहेंगे।

ऐसी उत्तम किताबें ढूँढ़िए, खोज में रहिए। गोविन्दचन्द्र पाण्डे, विद्यानिवास मिश्र और भगवानसिंह के ग्रन्थ हमें हमारी संस्कृति का गहरा ज्ञान कराते हैं। अपनी संस्कृति को समझना भी अच्छा शिक्षक बनना है। जिस शिक्षक के पास कोई जीवन-दर्शन नहीं है, कोई शिक्षा-दर्शन नहीं है, कोई विश्वदृष्टि—कोई अन्तर्दृष्टि, नहीं है, अर्थात् वैचारिक धरातल पर जो शून्य है वह मशीन की तरह तथ्यों को उगलने वाला मनुष्य-देह में मात्र पुतला है। चेतना वैचारिक आधार से आती है और वैचारिक आधार सतत स्वाध्याय एवं अनवरत चिन्तन-मनन से प्राप्त होता है।

ई.एफ. शूमाकर शिक्षा का उद्देश्य मानते हैं अच्छा काम, यही (Good Work) उनकी पुस्तक का नाम भी है। महादेवी वर्मा अच्छी शिक्षा का उद्देश्य क्या मानती थी, यह जानना हो तो पढ़िए अनौपचारिका (जयपुर) फरवरी, 2008 में उनका एक दीक्षान्त भाषण, और सन् 2020 के भारत की भावी तसवीर का क्या सपना हमारे पूर्व राष्ट्रपति श्री ए.पी.जे. अब्दुल कलाम देखा करते हैं यह जानना हो तो पढ़िए अनौपचारिका अगस्त-सितम्बर, 2007 में छपा उनका आलेख।

शिक्षक संगठनों के अखबार मैंने पढ़े ही हैं—गुजरात, बंगाल, महाराष्ट्र, उड़िशा तथा केरल से भी मैंने शिक्षक संगठनों के कई अखबार देखे हैं। बंगाल का 'शिक्खॉक' तथा 'शिक्खा-ओ-साहित्त' मैंने कई बरस पढ़ा है। मलयालम मैं नहीं जानता किन्तु यह जानता था कि मलयालम में 'अध्यापनम्' नाम का एक अखबार निकलता था। उड़िशा के प्राथमिक शिक्षक संघ का उड़िया में मैंने अखबार देखा है। गुजरात के आचार्य संघ का मुखपत्र 'सारस्वत' अभी भी मेरे सामने पड़ा है जो मैंने 1970 में सूरत में खरीदा था और जिसमें 1970 तक जो शिक्षक ग्राहक बन चुके थे उन शिक्षक ग्राहकों (294) की पूरे पते सहित सूची छपी हुई है। मैंने 'नया शिक्षक' को नया रूप दिया उससे पहले मात्र एक रुपया सालाना रियायती चन्दा शिक्षकों से लेने पर भी 1965 में मात्र 13 ग्राहक थे जिनमें एक मैं भी था। 'विभागीय गजट' को 'शिविरा पत्रिका' नाम देकर हमने शिविरा-नया शिक्षक से सरकारी ठप्पा हटा कर सचमुच शिक्षकों की अपनी पत्रिका बनाकर शुद्ध शिक्षकों की ही दृष्टि से चलाया, नियमित समय पर निकाला और अधिक-से-अधिक रोचक व उपयोगी बनाया तो हजारों ग्राहक बनते चले गए, हर साल नवीनीकरण

कराते चले गए, कितना ही शुल्क बढ़ता रहा तो भी। शिविरा का आज शिक्षकों के लिए रियायती वार्षिक शुल्क पचास रुपया है। हजारों शिक्षक ग्राहक हैं। नया शिक्षक का भी शुल्क बढ़ा तो भी ग्राहक कम नहीं हुए। मैंने शिविरा-नया शिक्षक का सम्पादन 13 वर्षों तक करने के बाद 1978 में छोड़ा था। मुझे याद है 78 से पहले शिविरा-नया शिक्षक के ग्राहक बनने या नवीनीकरण कराने वालों के धनादेश दस-बीस या सौ-पचास प्रायः आते रहते थे। कोई नई बात नहीं थी। किन्तु एक दिन तो रिकॉर्ड तोड़ मनीआर्डर आए—एक दिन में दो सौ पचास (250) और उनमें पैसा था 400 शिक्षक-ग्राहकों का।

शैक्षिक पत्रिकाओं की ओर शिक्षकों का रुझान बढ़े इसके लिए हमें ये उपाय करने होंगे—एक तो शिक्षक स्वयं जागें, उनमें शिक्षा-साहित्य अर्थात् शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें व पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ने की रुचि बढ़े। दूसरे शैक्षिक पत्रिकाओं के सम्पादक-लेखक अपनी सामग्री को अधिक-से-अधिक आधुनिक, अद्यतन, रोचक और उपयोगी बनाते रहें। पत्रिकाओं के प्रकाशकों की जिम्मेवारी है कि एक ओर तो वे उसे समय पर प्रकाशित करें, नियमित रूप से लगातार समय पर प्रेस को दें, समय पर प्रेस से लें, और निश्चित दिनांक को हर हालत में डाक में डाल ही दें। मासिक की तो तारीख तय होती है। तय तारीख को पोस्ट आफिस के थैले प्रेस में पहुँच जाते हैं। वे बताएँ वैसे बण्डल आप तैयार रखो, शेष छँटाई उनके कर्मचारी आकर हाथोंहाथ कर देते हैं। शिविरा की चालीस हजार प्रतियाँ दो रोज में डाक में पड़ जाया करती थीं। प्रकाशकों का दूसरा जरूरी काम यह है कि कागज, मुद्रण, प्रेषण आदि की तो अग्रिम तैयारी उन्हें रखनी ही है, साथ ही वे सबल सतत प्रचार भी करें। शिक्षकों, यथासम्भव माता-पिताओं को भी, सूचना दें, आकर्षित करें। आगामी अंकों का और पिछले अंकों की महत्त्वपूर्ण सामग्री का जमकर प्रचार होना चाहिए, होते रहना चाहिए। स्पष्ट है कि उत्कृष्ट सामग्री का असर होता है और नियमितता नियमित रूप से पाठक को बाँधे रखती है। शिक्षक जागें, माँ-बाप जागें, और सम्पादक-प्रकाशक भी शिक्षा-तत्त्व की महत्ता समझें तभी बात बनेगी। तभी लेखक व शिक्षक-लेखक भी जागेंगे। पाठक भी पढ़ेंगे और लेखक व शिक्षक-लेखक भी अद्यतन अध्ययन जारी रखेंगे।

हर शिक्षक अधिक पत्रिकाएँ-पुस्तकें मँगा नहीं सकता लेकिन कुछ तो व्यय करना ही चाहिए। आखिर यही तो हमारा कत्था-चूना है। कत्था-चूना नहीं होगा तो पान किससे लगाएँगे? यह तो हमारी व्यावसायिक तैयारी का मुद्रा निवेश है। अधिक बौद्धिक लाभ के लिए एक पाठक-समूह (क्लब) बना लें। अदल-बदल कर यों खूब सारा विविध साहित्य पढ़ सकते हैं। साहित्य पढ़ें, कला-शिल्प समझें, इतिहास-राजनीति की गहरी समझ प्राप्त करें, वैश्वीकरण की समस्याओं को जानें,

परमाणु करार की बारीकियों पर विविध पक्षों की राय जानें ('वर्तिका' का एक अंक इसी विषय पर है, प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, दिल्ली) या बाल-साहित्य पढ़ें, शैक्षिक पत्रिकाएँ पढ़ें—शिक्षा विमर्श (जयपुर), अनौपचारिका (जयपुर), शिविरा पत्रिका एवं नया शिक्षक (बीकानेर), आधुनिक शिक्षा व प्राथमिक-शिक्षक (NCERT, दिल्ली), विज्ञान-प्रगति (भारत सरकार, नई दिल्ली), 'खोजें और जानें' तथा 'शिक्षा की बुनियाद' (उदयपुर) आदि। पढ़ते रहेंगे तो व्यावसायिक उन्नयन का मार्ग खुलेगा। इकतरफा अध्ययन से काम नहीं चलेगा। नाना पहलुओं का मार्ग सदा खुला रखना पड़ेगा। प्रतिपक्ष और प्रतिरोध को सहिष्णुतापूर्वक समझे बगैर अपना पक्ष न बन सकेगा और न सुदृढ़ रह सकेगा। समय-समय पर अपने पक्ष की व अपनी राय की जाँच करते रहना चाहिए, अपनी दृष्टि को 'ज्ञानांजनशलाकया' माँजते रहना चाहिए। कोई सत्य शाश्वत नहीं है। कोई मत स्थायी नहीं है। पूर्वग्रहों से सावधान रहो। तंग ख़याली को दूर रखो। यह पूरा विश्व गतिमान है। हमारे विचार भी कैसे कितना गतिमान रहें यह आपको अपना स्वाध्याय बताएगा। हो सकता है कुछ मानवीय मूल्य और गुण बहुत लम्बे काल तक हमें शाश्वत लगें किन्तु बारीक अवसरों पर पेचीदा मामलों में सावधान न रहेंगे तो वहाँ भी धोखा खा जाएँगे। अहिंसा, प्रेम, सत्य, सहानुभूति, करुणा, मैत्री, धर्म, दया आदि सर्वथा शाश्वत मूल्य ही प्रतीत होते हैं किन्तु प्रयोग में इनके रूप अनेक हैं, इनकी वास्तविकता के पहलू अनेक हैं। हर निर्णय सावधानी माँगेगा। मजबूत बौद्धिक आधार बिना आप क्या करेंगे? वहाँ आपका स्वाध्याय और चिन्तन-मनन से बना विवेक ही काम आएगा। शिक्षक और माँ-बाप के नाते आपकी जिम्मेवारी बड़ी है। मूढ़ता त्यागें, जाग्रत् रहें, और क्या पढ़ें, क्यों पढ़ें, यह तय करने की क्षमता अर्जित करें।

यदि आप 'क्या पढ़ें' और 'क्यों पढ़ें' इतना तय करने की क्षमता अर्जित कर सके तो जरूर शैक्षिक लेखक भी बन सकते हैं। जो देखते हैं वह लिखें। उस पर सोचें और लिखें। जो देखते हैं और जो पढ़ते हैं और जो सोचते हैं वह किसी को बताने के लिए लिखना हो तो कैसे लिखेंगे, यह अभ्यास करें डायरी लिख कर। रोज लिखें चाहे कभी-कभी लिखें, डायरी लिखें। कम-से-कम एक-दो मित्र ऐसे हों जिन्हें आप पत्र लिखा करें, पत्रों में अपने जीवन-जगत् के अनुभव और अनुभूतियाँ व्यक्त किया करें। अभिव्यक्ति का विकास भी होगा, व्यक्तित्व का विकास भी होगा और गिजुभाई जैसा आपके भीतर बैठा एक शुद्ध शैक्षिक चिन्तक भी बाहर आएगा। शिक्षा क्या है? हमारी छिपी शक्तियों को बाहर लाना ही तो है! छोटे बच्चों को भी डायरी लिखना सिखा कर डायरी को व्यक्तित्व विकास का साधन बना सकते हैं। रामकुमारजी कृषक एक प्रसिद्ध कवि और ग़ज़लकार

हैं। उन्होंने सातवीं-आठवीं के एक बच्चे शिवांक को डायरी लिखते देखा तो उस बच्चे की डायरी उन्होंने बहुत आकर्षक व सुन्दर रूप में प्रकाशित कर दी। जो भी बच्चा-बड़ा उसे पढ़ता है—प्रसन्न होता है, प्रेरणा पाता है। एन फ्रैंक एक बच्ची थी जर्मनी में, नाजियों के अत्याचार हुए वे उसने देखे, उसे कैद में डाल दिया गया जहाँ अनेक यन्त्रणाएँ मिलीं और वह वहीं मर भी गई, लेकिन उसकी डायरी जेल से बाहर आ गई। आज 'एन फ्रैंक की डायरी' इसी नाम से कालजयी (क्लैसिक) कृति हो गई। वह तो बच्ची थी, आप बड़े हैं। आप प्रौढ़ पढ़े-लिखे शिक्षक हैं। थोड़ा-सा ध्यान दें इधर, थोड़ी-सी कोशिश करें लिखने की, तो आप भी गिजुभाई और जॉन होल्ट बन सकते हैं। पढ़ने की आदत तो हर शिक्षक में होती ही है, किसी-किसी में अनुभव लिखने की आदत हो तो सोने में सुहागा है। निश्चित ही आप भी गिजुभाई की तरह शैक्षिक लेखक बन सकते हैं।

पिछले दिनों मैंने टी.वी. खोली तो ऐसा सुखद संयोग हुआ कि 'टु सर विद लव' पुस्तक और फिल्म दोनों याद आ गए। वह कहानी एक शिक्षक की कहानी है। खुद नीग्रो है और मिले-जुले नस्ल के छात्र-छात्राओं को पढ़ाता है जो उत्पाती हैं। संघर्ष करता है और सफल होता है। इस बार भी एक अध्यापिका की कहानी है जो नीग्रो तो नहीं है, गोरी है, किन्तु छात्र-छात्राएँ वही मिली-जुली नस्ल वाली हैं, वातावरण गैंग-वार का है, हिंसक है। अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम में 'फ्रीडम राइटर्ज' का विशेष महत्त्व है। उसी तर्ज पर एक अध्यापिका सुश्री एरिन ग्रुवेल (Erin Gruwell) ने गैंग-वार के इलाके में पड़ने वाली अपनी स्कूल की छात्र-छात्राओं को उस वातावरण के प्रभावों से मुक्त कराने के लिए और पढ़ने-सोचने की प्रवृत्ति पैदा करने के लिए एक प्रयोग किया। मिर्जा ग़ालिब की मनोकामना पूरी हुई, 'आदमी' को 'इंसान' होना 'मयस्सर' हो गया। प्रयोग यह किया कि हर छात्र-छात्रा को एक-एक कापी देकर कहा कि जो देखो अपने आस-पास वह इसमें लिखो, जो तुम करो या जो तुम्हारे साथ घटित हो वह इसमें लिखो। क्या अच्छा लगा और क्या बुरा लगा वह भी इसमें लिख दो। निर्भय होकर लिखो। डरो मत। क्यों बुरा लगा और क्यों अच्छा लगा यह लिखना थोड़ा कठिन है पर जैसी समझ आए वैसा ही लिख दें। यह लिखने की प्रक्रिया आपको सोचना सिखा देगी। अध्यापिका उन्हें सोचना ही सिखाना चाहती थी। वे डायरी लिखने लग गए। वे परस्पर लड़ने वालों का, आग लगाने वालों का, लोगों के घर उजाड़ने वालों का, नफरत की आग में जलने वालों का, स्वार्थ-संकीर्णता व जाति-धर्म आदि के कारण घृणा पाल-पाल कर दंगे करने-कराने वालों की गैंगवार के सिलसिलों का मनोविज्ञान समझने लग गए, उनके गुण-दोषों का अपनी-अपनी डायरी में अपने-अपने ढंग से विवेचन करने लग गए। और फलतः यों वे स्वयं छोटे-मोटे झगड़ों

में तथा बड़े-बड़े समूहों के गैंग-वार में लिप्त होने से बचने लग गए और अच्छी पढ़ाई करते-करते ऊँचे-ऊँचे पदों पर काम करने योग्य बनने लग गए। सहिष्णुता ही उनकी पाठ्यचर्या का प्रमुख अंग रहा, कोर करीकुलम रहा। अध्यापिका ने इस घटना पर पूरा ध्यान रखा, पढ़कर बाहर जाने वाले छात्र-छात्राओं से सम्पर्क रखा और एक समय आया जब इन डायरियों से हुए व्यक्तित्व विकास की प्रक्रिया को कलमबद्ध करके पुस्तक बना डाली 'फ्रीडम राइटर्ज डायरी'। पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई 'तोत्तोचान' की तरह और 'एन फ्रैंक्स डायरी' की तरह कि फिल्म बन गई। फिल्म ने धूम मचाई और पुस्तक ने धूम मचाई तो अध्यापिका-लेखिका ने इसको पढ़ाने की, इसका उपयोग करने की, शिक्षक-निर्देशिका (टीचर्स गाइड) भी लिख डाली। नाम वही रहा The Freedom Writers Diary–The Teacher's Guide जिसकी साइज किताबों की साधारणतया जो साइज होती है डिमाई साइज उससे बड़ी है ए-4 साइज या समझो 'इण्डिया टुडे' या 'अनौपचारिका' साइज। पाइए, पढ़िए। पढ़ने का एक और ही आनन्द है। फिल्म की डीवीडी, पुस्तक, तथा 'टीचर्स गाइड' कल ही मुझे अमेजन डॉट कॉम के मार्फत अमेरिका से प्राप्त हुई। फिल्म फिर से देखूँगा, पुस्तक और गाइड का भी आनन्द लूँगा। आनन्द में से आनन्द निकला है तो फिर-फिर पढ़ने का आनन्द लूँगा।

फिल्म हो चाहे पुस्तक हो, कविता हो चाहे गीत हो, कब किसको गहराई से जानना है, फिर-फिर पढ़ना है, यह इच्छा पैदा होनी चाहिए। टैगोर और नज़रुल इस्लाम के गीत इस बंगाल और उस बंगाल में, जहाँ कहीं बांग्ला-भाषाभाषी या भाषा-प्रेमी बसता है वहाँ, प्यार से पढ़े जाते हैं, गाए जाते हैं। सुबह-सुबह ढाका रेडियो या कोलकाता आकाशवाणी या डी.डी. बांग्ला खोलकर देखें, आपको इनके गीत सुनाई दे जाएँगे। डी.डी. बांग्ला तो शान्ति-निकेतन से ही सीधा सुबह 'गीत-वितान' नाम का पूरे आधा घण्टे का कार्यक्रम प्रसारित करता है, जिसमें बिना वाद्य-यन्त्रों के या नाम मात्र के वाद्य यन्त्रों के साथ टैगोर के गीत गाए जाते हैं। 'गीतांजलि' पर ही उनको नोबेल पुरस्कार मिला था। गीत-संगीत हो, शिक्षा और साहित्य हो या शास्त्र-पुराण हो, या धर्म और दर्शन ही क्यों न हो, हरदम कुछ-न-कुछ पढ़ते रहना चाहिए। कुछ-न-कुछ आगे-पीछे खोजते रहना चाहिए। तभी पढ़ना आएगा, तभी पढ़ने का आनन्द आएगा, और हमको हमारे बच्चों-बच्चियों को तथा समाज को और वृहद् वैश्विक परिवेश को समझने की दृष्टि मिलेगी, हम विवेकशील होंगे—विवेकवान होंगे। क्यों इतना वैमनस्य है, क्यों इतने संघर्ष हैं, क्यों हम एक-दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं, इन सब की तह में जाना विद्यार्थी जीवन से ही शुरू हो सकता है बशर्ते शिक्षक और माँ-बाप दृष्टिवान हों, विवेकवान हों, अध्ययनशील हों और जागते रहें। वे जागेंगे

तो बच्चे भी जागेंगे, वे सोचेंगे तो बच्चे भी सोचेंगे, और वे पढ़ेंगे तो बच्चे भी पढ़ेंगे।

सोचने की बात यह है कि जब गिजुभाई वकील-बैरिस्टर होते हुए भी बिना बी.एड.-एम.एड. किए शिक्षा सम्बन्धी इतने ग्रन्थ इतनी लगन, निष्ठा व गहराई से पढ़ सकते थे तो हम जो शिक्षा के आलिम-फ़ाज़िल हैं, धन्धे से शिक्षा का धन्धा करते हैं फिर भी शिक्षा पर कुछ नहीं पढ़ते। जामनगर के भाई भरतलाल पाठक ने पुस्तक लिखी है 'गिजुभाई का शिक्षा में योगदान', गुजराती से अनुवाद किया है रामनरेश सोनी ने। प्रकाशक हैं जनसेवी प्रकाशन, बीकानेर। उसे पढ़िए गुजराती में या हिन्दी में। उसमें उन्होंने सूची दी है उन पुस्तकों की व पत्र-पत्रिकाओं की जो गिजुभाई ने पढ़ी थीं या पढ़ा करते थे। पिछली सदी के भी प्रारम्भ की बात है तब इतना पढ़ा था उन्होंने, आज तो साधन भी बढ़े हैं, सूचना-स्रोत भी बढ़े हैं। हर पठनशील पाठक का पहला कर्तव्य है वह अपना निजी पुस्तकालय बनाए और यह खोज-खबर रखे कि किस भाषा में शिक्षा पर पढ़ने योग्य क्या-क्या पुस्तकें चर्चा में आई हैं और ज्ञान-विज्ञान या कथा-कविता या बाल-साहित्य में बाजार में ऐसा क्या है जो उसे अविलम्ब घर ले आना चाहिए। समीक्षाएँ भी सहायता करती हैं। 'शिक्षा विमर्श', 'शिविरा पत्रिका', 'नया शिक्षक', 'आधुनिक शिक्षा', 'प्राथमिक शिक्षक', 'टीचर प्लस' (अंग्रेजी), स्कूल टुडे (हिंदी), 'एज्यूकेशन एब्स्ट्रेक्ट्स' (हिंदी-अंग्रेजी), 'एज्यूकेशन डाइजेस्ट', 'स्कूल रिव्यू', 'बी.सी. टीचर', 'एज्यूकेशन', 'थियरी इण्टु प्रेक्टिस', 'टाइम्ज एज्यूकेशन सप्लीमेंट' आदि में शिक्षा, शिक्षण व शिक्षानुसंधान सम्बन्धी पुस्तकों की समीक्षाएँ होती हैं। 'कादम्बिनी', 'कथादेश', 'पहल', 'तद्भव', 'आलोचना', 'अकार', 'अक्षरा', 'समयान्तर', 'आधारशिला', 'कथन', 'अक्षरपर्व', 'दस्तावेज', 'हंस', 'वागर्थ', 'मधुमती', 'मरु गुलशन', 'नवनीत', 'नया ज्ञानोदय' आदि साहित्यिक पत्रिकाओं में भी साहित्यिक-सांस्कृतिक पुस्तकों की समीक्षाएँ होती हैं। कविता, कहानी, निबन्ध, आलोचना, कला, संगीत, धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान की सामग्री भी पढ़िए। कोरी शिक्षा की पुस्तकों से शिक्षा नहीं होती है। और साहित्यिक पत्रिकाओं में भी शुद्ध शिक्षा की पुस्तकों की समीक्षाएँ यदा-कदा मिल जाती हैं जो बहुमूल्य होती हैं। जैसे एक बार 'कादम्बिनी' में जॉन होल्ट की कालजयी पुस्तक 'असफल स्कूल' ('अण्डर अचीविंग स्कूल' का अनुवाद) की समीक्षा मिल गई थी और 'हंस' तथा 'कथन' में तो ग्रन्थशिल्पी प्रकाशन के शिक्षा सम्बन्धी प्रकाशनों की चर्चा-समीक्षा प्रायः ही हम पढ़ते रहते हैं। रमेश दवे का लेख 'दुनिया में शिक्षा-क्रान्ति' मैंने 'नया ज्ञानोदय' अक्टूबर, 2006 में पढ़ा था और रमेश दवे की ही पुस्तक 'मैं इस तरह नहीं पढ़ूँगी' का परिचय ग्रन्थशिल्पी के सूचीपत्र से पाया था।

तब याद आया था कि बच्चों के लिए कृष्णकुमार की एक पुस्तक का नाम था 'अब मैं नहीं पढ़ूँगा'। प्रकाशकों की पुस्तक सूचियों से, पत्रिकाओं की समीक्षाओं से और लेखों से अच्छी-अच्छी पुस्तकों की सूचना मिलती है। मेरे प्रिय लेखक जिस पुस्तक या फिल्म की चर्चा करते हैं, प्रशंसा करते हैं, वह पढ़ने-देखने को मैं आकुल हो जाता हूँ। इन चर्चाओं-समीक्षाओं से अपनी पसन्द की पुस्तकों-फिल्मों का हम चयन कर सकते हैं। वाणी, राजकमल, राजपाल, ग्रन्थशिल्पी, आधार प्रकाशन आदि के प्रकाशन समाचार भी निकालते हैं और पुस्तक-सूचियाँ भी। प्रकाशन-समाचार जैसी पत्रिकाओं में किसी-किसी पुस्तक या लेखक पर विस्तार से चर्चा भी होती है। वे रोचक और पठनीय होती हैं।

हम चारों तरफ नज़र रखें तो कितना आनन्द है? पढ़ें वही जो पसन्द हो, उतना ही जितना रुचिकर लगे, किन्तु अपना संस्कार जरूर करें, पुस्तक संस्कृति को अपने जीवन का अंग जरूर बनाएँ। तभी यह शिक्षक जीवन सार्थक है। माँ-बाप भी घरशाला में पहले शिक्षक हैं। वे भी स्वाध्याय के संस्कार से वंचित क्यों रहें? किंचित्-किंचित्, थोड़ा-थोड़ा, सभी हाथ बढ़ाएँ तो हमारी भावी पीढ़ी अध्ययनशील-प्रगतिशील और विवेकवान-विचारवान बनेगी, श्रेष्ठ और उदात्त भावों से समृद्ध बनेगी। अपनी सांस्कृतिक समृद्धि के लिए हमें कुछ तो 'माथापच्ची' करनी ही चाहिए। महान् शिक्षक गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, प्रो. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम, मैडम मारिया मोंटेसरी, जॉन होल्ट तथा गिजुभाई बधेका का उदाहरण हमारे सामने है जो जीवन भर लगातार अध्ययनशील बने रहे हैं। कितना ही अच्छा हो यदि हमारे शिक्षक और माँ-बाप साक्षात् गिजुभाई बन जाएँ!

भारत में शिक्षा का भविष्य

भारत में शिक्षा का भविष्य कैसा रहेगा, यह कोई भविष्यवाणी का विषय नहीं है। यह हमारे सामर्थ्य, शक्ति और प्रयत्नों के अनुसार ही बनेगा। आज तक हमारी शिक्षा प्रणाली ने कई रूप धारण किए हैं। लोकतन्त्र है, सत्ता बदलती है तो कोई परिवर्तन आ जाता है। न बदले सत्ता तो लोक को सन्तोष देने को कोई कमीशन, कोई कमेटी बन जाती है। 'आमूलचूल परिवर्तन' का उद्घोष करते हुए कोई व्यावसायिक शिक्षा को आदर्श मानता है, तो कोई सर्वांगीण विकास को शिक्षा का प्रमुख अंग बताता है। ये सब अन्तर्विरोधी बातें हैं पर बड़ा देश है तो अन्तर्विरोध तो होंगे ही।

गांधीजी के प्रभाव में हमने बुनियादी शिक्षा शुरू की फिर बन्द भी कर दी। अंग्रेजी राज को हटाया तो अंग्रेजी शिक्षण ही हटाने का जुनून छाया। ऊपर की कक्षाओं में अंग्रेजी रखी तो नितान्त अनमने भाव से। आज हर राज्य इसे सिर पर बिठा रहा है। पहली कक्षा से ही अनिवार्य बनाने को तत्पर है। अंग्रेजी माध्यम की निजी स्कूलों की संख्या तेजी से बढ़ती जा रही है। सरकारें खुद सरकारी स्कूलों में अंग्रेजी के स्तर को उठाने में जुटी हैं। लैंग्वेज लैब तक लगाने की चर्चाएँ शुरू हो गई हैं। हर राज्य में इंग्लिश इन्स्टीट्यूट स्थापित कर विशेष प्रशिक्षण तो कभी का प्रारम्भ हो गया था, अब उसको नया बल मिला है।

कुछ विद्वानों ने कहा विज्ञान और उद्योग की तरह पक्की शिक्षा हो, वहीं दूसरे कुछ विद्वानों ने कहा कि ऐसी यन्त्रवत् शिक्षा भी कोई शिक्षा है? मौलिक चिन्तन सृजन की क्षमता उत्पन्न करनी है तो बच्चों को अपनी चाल से, अपनी रुचियाँ निर्मित करते हुए अपने सामर्थ्य व क्षमता के अनुसार पढ़ाई और परिवेश से प्रभाव ग्रहण करते हुए स्वतः आगे बढ़ने दो। उसमें ग्रहणशीलता जगाओ। उसे अपनी दृष्टि, अपने निजी जीवन-दर्शन का निर्माण करने दो। गांधीजी की 'बुनियादी तालीम' की लहर अभी भी गई नहीं है, वह तो अन्तःसलिला हो गई है अज्ञेय की कविता की तरह—'अरे! अन्तःसलिला है रेत'।

भारत की शिक्षा के भविष्य को उज्ज्वल बनाना है तो हमें गांधी, गिजुभाई और अनुपम मिश्र की शिक्षाओं पर ध्यान देना होगा। अन्य और कौन-कौन हैं उन्हें

भी फिर से याद करना होगा (मोंटिसरी, नील, जॉन होल्ट, इलिच, फ्रेरे आदि), खोजना होगा, जिससे कि हमारे शिक्षक, शिक्षा प्रबन्धक, माता-पिता और शिक्षा के नीति-निर्माता प्रेरणा ले सकें।

सबसे बड़ी कमी यही है कि हम शिक्षा-साहित्य और आवश्यक प्रतिवेदन-दस्तावेज नहीं पढ़ते, शिक्षा के वर्तमान स्वरूप पर और भावी शिक्षा के उन्नयन की ओर बढ़ने के लिए हम विचार नहीं करते और विचार का आधार नहीं ढूँढ़ते। निरन्तर विचार से निरन्तर नई दृष्टि मिलेगी। नई दृष्टि आवश्यक है प्रगति के लिए। जो श्रेयस् है उसे पहचानना है और उसे अपनाना है। जहाँ से भी प्रेरणा-प्रभाव मिले उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिए। संकीर्ण दृष्टि कट्टरता पैदा करती है। उससे बचते हुए आगे बढ़ना है। तभी परम्परा और प्रगति का समन्वय होगा, विवेक बढ़ेगा और हम सभ्य और शिक्षित कहलाएँगे।

अच्छी शिक्षा का प्रबन्ध कैसे करें, यह हमें शिक्षा के समकालीन चिन्तक-मनीषी बताएँगे। उन्हें ढूँढ़ें, पढ़ें और सोचें। हम पढ़ते नहीं, सोचते नहीं, इसीलिए शिक्षा की प्रगति महामंथर है। शिक्षा पर सोचें तो कोई अच्छी पत्रिका भी नहीं है राष्ट्रीय स्तर पर। एनसीईआरटी स्वायत्त होते हुए भी इतनी अधिक सरकारी हो गई है कि सरकार का दिया काम पहले करती है। अपनी कोई पत्रिका समय पर नहीं निकाल पाती है। न ग्राहक बढ़ा पाती है, न प्रचार-प्रसार पर कोई ध्यान दे पाती है। दो पत्रिकाओं 'प्राथमिक शिक्षक' तथा 'भारतीय आधुनिक शिक्षा' जिनका जनवरी, 2008 में जो शुल्क (36+14 = 50) विज्ञापित करती है, उन्हें 2009 से पहले ही नौ गुना से भी अधिक कर देने का निर्णय ले डालती है। कैसे बढ़ेंगे ग्राहक और पाठक? देश की शिक्षा की प्रगति और परिवर्तन के लिए पाठक को विचार-मंथन की कोई प्रेरणा भी ये पत्रिकाएँ नहीं दे पाती हैं, सामग्री संवर्धन की तो बात ही क्या करें! राज्यों में एनसीईआरटी की तरह एससीईआरटी या एसआईईआरटी स्थापित हैं किन्तु वे भी निष्क्रिय हैं, कोई विशेष शैक्षिक विचार-मंथन नहीं करा पातीं, प्रेरणा नहीं दे पातीं।

स्वतन्त्रता के बाद हमने यह अनुभव किया है कि पाठ्यपुस्तकों की विषयवस्तु और रंग-रूप तथा मुद्रण आदि में कई सुधार हुए हैं और कई विवाद भी पैदा हुए। पाठ्य विषयों के रूप भी नई-नई शोधों व चिन्तनधाराओं से प्रभावित हुए हैं, उनकी अन्तर्वस्तु भी विवाद का विषय बनी है। राजनीतिक प्रभाव में लिप्त शिक्षाविद् कभी संकीर्ण दृष्टिपथ पर ले गए तो खुली हवा वाले लोग उदार और खुले दृष्टिपथ पर ले गए। यह भी एक समस्या है शिक्षा की। न हम सहिष्णु हुए, न उदार हुए और न ही समझदार हुए।

इन परिस्थितियों को देखकर कई बार लोगों ने नैतिक शिक्षा की बात की, मूल्यों की शिक्षा पर सेमिनार हुए और धार्मिक शिक्षा की भी माँग उठी। ऐसा सोचने वालों की सदाशयता में शंका करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि हर आदमी का अपना अतीत होता है, अपना अध्ययन, दृष्टि और विश्वास होता है। जो सावधान न रहे तो पूर्वग्रह भी बन जाता है। ये जो माँगें उठीं या अपेक्षाएँ की गईं, वे सब अपनी-अपनी दृष्टियों की उत्पत्ति थीं। मूल्यों की शिक्षा को तो एनसीईआरटी ने भी हवा दी, बिना यह सोचे कि जहाँ शिक्षा है वहाँ मूल्य तो होंगे ही। अलग से उनकी बात करना या तो धार्मिक शिक्षा की तरफ़दारी की ओर बढ़ना है या शिक्षा प्रक्रिया की समूची प्रणाली को ही कमजोर बनाना है। उत्तम व्यक्ति व उत्तम सामाजिक चरित्र के धर्म से अभिप्रेत जो अर्थ होते हैं, वे सभी अच्छी शिक्षा के अविच्छिन्न अंग हैं। लगभग हर विषयानुशासन में ये विद्यमान रहते हैं। नागरिकता की शिक्षा दो, साहित्य पढ़ाओ, इतिहास का विश्लेषण-विवेचन करो, या कला-विज्ञान-वाणिज्य कुछ भी पढ़ाओ, मनुष्यता और मूल्य सब जगह साथ-साथ चलते हैं। न मनुष्यता का अलग से शिक्षण किया जा सकता है और न मूल्यों का।

पाठ्यपुस्तकों की सामग्री व आकार-प्रकार तथा रंग-रूप में निजी प्रकाशक बहुत बदलाव लाए हैं और केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड तथा एनसीईआरटी ने भी खूब सोच-समझकर उन्हें और अधिक सार्थक, रोचक और आकर्षक बनाने की अच्छी कोशिश की है। इन सबका आग्रह है कि इनकी पुस्तकें पढ़ाई जाएँ स्कूलों में। निजी प्रकाशकों का आग्रह है तो है, चलेगा। निजी स्कूलों में तो चलेगा, अच्छा ही है, विविधता रहेगी। सरकारी स्कूलों के शिक्षकों की मुश्किल है। उन्हें वही पढ़ाना पड़ेगा, जो बोर्ड तय करेगा। बोर्ड या तो अपनी पुस्तकें बनाता है या केन्द्रीय बोर्ड की ले लेता है। इसमें हानि यह है कि एकरूपता के राग में सरकारी स्कूलों का शिक्षक कभी स्वतन्त्र या स्वायत्त नहीं हो सकता। उसका मानसिक-बौद्धिक विकास करने का उसे कोई मौका ही नहीं है। मौका होना चाहिए। समानता और एकरूपता का भी अलग महत्त्व है किन्तु शिक्षक व शिक्षण संस्था की स्वतन्त्रता भी कम कीमती नहीं है। हर सरकारी स्कूल को भी अपनी पाठ्यचर्या, अपना पाठ्यक्रम तय करने का निर्बाध अवसर मिलना चाहिए। मानता हूँ, अधिकांश विद्यालय अपने शिक्षा विभाग तथा अपने बोर्ड के आदेशों का ही अनुसरण करना पसन्द करेंगे। प्रायः सब सोचते हैं कि कौन सिर खपाएं, कौन माथापच्ची करे। लेकिन अवसर हो तो सम्भव है हमारी शिक्षा प्रणाली में भी कोई आन्तरिक लोकतन्त्र विकसित हो जाए। इस चारित्रिक एवं बौद्धिक उद्यम-उत्पादन में हमारे शिक्षक और हमारे विद्यालय आत्मनिर्भर बन जाएँ। शिक्षा सम्बन्धी मौलिक चिन्तन-मनन की कहीं तो कोई गुंजाइश हो, कोई इच्छा तो हो!

'निःशुल्क और अनिवार्य बाल शिक्षा का अधिकार कानून 2009' से भारत के भविष्य की शिक्षा में एक आशाजनक मोड़ आया है, एक नया अध्याय जुड़ा है। इस कानून में कई अच्छाइयाँ हैं तो कुछ कमियाँ भी हैं।

अच्छाइयां ये हैं—(1) अब 1 अप्रैल, 2010 से शिक्षा का अधिकार बच्चों का मौलिक अधिकार होगा। (2) 6 से 14 तक की उम्र के बच्चों को आठ साल तक की शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य होगी। (3) कक्षा 8 तक किसी भी बालक-बालिका को फेल नहीं किया जा सकेगा। (4) किसी भी बालक-बालिका को न तो शारीरिक दण्ड दिया जा सकेगा और न उसका मानसिक उत्पीड़न किया जा सकेगा। (5) जो कभी स्कूल छोड़ गए उन्हें उनकी आयु के अनुरूप कक्षा में भरती करना होगा। (6) लड़कियों, वंचितों और विकलांगों पर विशेष ध्यान दिया जाएगा। (7) भरती के लिए किसी प्रकार का परीक्षण नहीं होगा। (8) कैपिटेशन फीस बिल्कुल कोई नहीं लेगा। (9) प्रत्येक निजी स्कूल को 25 प्रतिशत भरती वंचित व पिछड़े वर्ग से करनी होगी और उनसे कोई शुल्क नहीं लिया जाएगा। (10) स्कूलों का संचालन स्कूल मैनेजमेंट कमेटी करेगी जिसमें तीन-चौथाई सदस्य माता-पिता या अभिभावक होंगे, 50 प्रतिशत महिलाएँ होंगी, कमजोर तथा वंचित वर्ग के सदस्यों का प्रतिशत उनकी आबादी के अनुसार होगा। इन सदस्यों का प्रशिक्षण भी होगा। (11) शिक्षकों की अकादमिक व प्रशिक्षण योग्यताएँ वे होंगी जो केन्द्रीय सरकार द्वारा तय संस्थाएँ (जैसे एनसीटीई आदि) निर्धारित करें। (12) शिक्षकों को जनगणना, प्राकृतिक विपदाओं तथा आम चुनावों के अलावा किसी प्रकार के गैर-शैक्षिक कार्य नहीं करने होंगे। (13) शिक्षक प्राइवेट ट्यूशन नहीं कर सकेंगे। (14) शिक्षाक्रम निर्धारित करने के लिए केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारें उपयुक्त अकादमिक संस्थाएँ निर्धारित करेंगी। (15) आठवीं तक कोई बाह्य परीक्षा या पास-फेल वाली कोई परीक्षा नहीं होगी। (16) हर स्कूल अपने शिक्षकों के द्वारा व्यापक अनवरत आन्तरिक परीक्षा की व्यवस्था करेगी। (17) ट्रांसफर सर्टिफिकेट देने में आनाकानी करने या विलम्ब करने पर संस्थाप्रभारी के विरुद्ध कार्यवाही होगी। (18) माता-पिता व अभिभावकों का कर्तव्य है कि वे अपने बच्चों को स्कूल में भरती कराएँ और उनकी नियमित उपस्थिति सुनिश्चित करें (न करने पर कोई दण्ड नहीं)। (19) यदि कोई कैपिटेशन फीस लेता है तो ली गई कैपिटेशन फीस का दस गुना जुर्माना देना होगा। (20) यदि कोई स्कूल भरती के लिए किसी भी प्रकार की स्क्रीनिंग करता है तो उस पर पहले केस में 25,000 रु. तक और उसके बाद हर केस में 50,000 रु. तक का जुर्माना देना होगा। (21) बिना मान्यता के स्कूल चलाने या सम्बन्धित अधिकारी द्वारा मान्यता रद्द कर देने और उसके बाद भी स्कूल चलते

रहने पर प्रतिदिन 10,000 रु. का जुर्माना लगेगा। (22) यह कानून हर पीड़ित तथा नागरिक को अधिकार देता है कि जरूरत पड़ने पर वे अदालत का सहारा लें।

कमियों की भी कोई कमी नहीं। शिक्षकों के लिए परेशानी पैदा कर दी है इस विधेयक ने, यह कह कर कि जो कभी भरती नहीं हुए या आठवीं में पहले स्कूल छोड़ गए, उन्हें आयु के अनुरूप कक्षा में भरती करना होगा। उनको अलग से पढ़ाना और अन्य सामान्य बच्चों को भी साथ-साथ पढ़ाना, जो क्रमशः कई बरसों से पिछली कक्षाओं में पढ़ते-पढ़ते उस कक्षा में आए हैं, कैसे सम्भव होगा? विधेयक ऐसे नवागन्तुकों के लिए अलग से विशेष शिक्षण (विशेष प्रशिक्षण) की भी बात करता है।

इस विषय में 'शिक्षा विमर्श' (दिगंतर, जगतपुरा, जयपुर) के सम्पादक श्री विश्वम्भर कहते हैं—'मान लीजिए किसी कक्षा 7 में 12 ऐसे बच्चों ने प्रवेश लिया है जो कि अभी 13 वर्ष के हैं और इससे पहले वे कभी स्कूल नहीं गए हैं। अतः उपरोक्त प्रावधान के अनुसार 13 वर्ष के बच्चों को उम्र के हिसाब से कक्षा 7 में ही प्रवेश मिलेगा। इसी कक्षा के शेष 23 बच्चे पिछले सात सालों से स्कूल में पढ़ रहे हैं। अब ऐसी स्थिति में यदि सीखने के स्तर को आधार बनाया जाए तो इन बच्चों के साथ शिक्षक को पहली कक्षा के पाठ्यक्रम पर काम करना चाहिए। लेकिन यह कानून की बाध्यता है कि उन बच्चों को कक्षा 7 में ही प्रवेश मिलेगा। ऐसी स्थिति में शिक्षक इनके साथ किस तरह काम करेगा?' (अनौपचारिका मई-जून 2010) वे आगे और पूछते हैं, 'यह सोचने-समझने की कोशिश हुई ही नहीं है कि बच्चों के लिए (ये) जो प्रावधान किए जा रहे हैं, वे कक्षावार विभाजित शाला में सम्भव ही नहीं हैं।... तो कक्षा की परिभाषा क्या है?' (शिक्षा-विमर्श, नवम्बर-दिसम्बर, 2009)

शिक्षकों की अकादमिक तथा प्रशिक्षण की योग्यताएँ वे होंगी जो केन्द्र द्वारा तय संस्थाएँ (जैसे नेट आदि) निर्धारित करें, लेकिन आज तक बड़े-बड़े लोगों को यह समझ क्यों नहीं आया कि जब एम.ए. पास शिक्षक एम.ए. कक्षा को पढ़ाने के योग्य माना जा सकता है तो दसवीं पास को दसवीं और पाँचवी-सातवीं पास पाँचवी-सातवीं को पढ़ाने के योग्य क्यों नहीं माना जा सकता? ऐसे भी शिक्षक होते आए हैं जिन्होंने कोई प्रशिक्षण प्राप्त नहीं किया फिर भी वे एस.टी.सी., बी.एड. और एम.एड. ही नहीं शिक्षा में पीएच.डी. तथा डी.लिट्. पढ़ने वालों तक के आदर्श होते हैं। वे ऐसा कर सकते हैं क्योंकि उन्हें या तो शिक्षा-साहित्य पढ़ने में गहरी रुचि होती है और या शिक्षण प्रणाली के रहस्यों को सीखने-समझने की ललक रहती है। राहुल सांकृत्यायन ने किस विश्वविद्यालय से डिग्री ली थी? बड़े प्रसिद्ध प्रोफेसर हुए हैं कई, किन्तु क्या कभी किया था उन्होंने बी.एड., एम.एड.?

वे अनुभव और सतत स्वाध्याय से सीखे हैं। प्राथमिक-माध्यमिक शिक्षक को भी स्वाध्याय व अनुभव से सीखने दो तो क्या बुराई है? जरूरत है शिक्षा-नीति निर्माताओं, नियन्त्रकों व प्रबन्धकों के चिन्तन की जड़ता दूर होने की।

परीक्षा फल दिलाना (कोचिंग) एक अलग कौशल है और शिक्षक का शिक्षा व शिक्षण की बारीकियों में रुचि होना तथा शिक्षा-तत्त्व का ज्ञाता होना अलग बात है। शिक्षा-तत्त्व पर पूरा ध्यान देने वाले कोई शिक्षक होंगे तो उनके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। वे पढ़ाने का रास्ता भी बना लेंगे और सरकारों को भी झुका देंगे। वे अपने विद्यार्थियों में सामाजिक-आर्थिक यथार्थ की आलोचनात्मक समझ भी पैदा करेंगे और भेदभाव तथा अन्याय के खिलाफ खड़ा होने की भी समझ व रास्ते पैदा करेंगे। शिक्षा में गुणवत्ता लानी है, जो कि इस कानून की मंशा है, तो हर शिक्षक को इतना शक्तिवान तो बनना ही होगा कि वह सतत स्वाध्यायी हो, शिक्षण को अधिक-से-अधिक सार्थक बनाने वाला हो और स्वतन्त्र बने, स्वायत्त बने।

सरकार शिक्षा की ढाल बने

राजनीति विज्ञान की ग्यारहवीं कक्षा की पाठ्य-पुस्तक (भारत का संविधान) की प्रस्तावना इसके मुख्य सलाहकारों प्रो. सुहास पाळशिकर तथा प्रो. योगेन्द्र यादव ने विद्यार्थियों के नाम 'एक चिट्ठी आपके नाम' नाम से लिखी है, जिसमें उन्होंने कहा है, 'हमें आशा है कि इन कार्टूनों का मजा लेने के साथ-साथ आप इनके आधार पर राजनीति के बारे में सोचेंगे और बहस करेंगे।' इन पाठ्यपुस्तकों के कई अध्यायों में कार्टून दिए गए हैं। सलाहकारों का कहना है कि इन कार्टूनों का उद्देश्य महज हँसाना-गुदगुदाना नहीं है, ये कार्टून विद्यार्थियों को किसी बात की आलोचना, कमजोरी और सम्भावित असफलता के बारे में भी बताते हैं। इनके अतिरिक्त किताब में जगह-जगह पन्ने के हाशिए पर पाठकों को दो चरित्र नज़र आएँगे जो कार्टूनिस्ट इरफान खां ने बनाए हैं। ये दोनों चरित्र सामान्यतया जैसे किशोर उम्र के विद्यार्थी होते हैं वैसे ही हैं—सवाली, बातूनी और कुछ-कुछ शरारती। विद्यार्थियों को रूखी-सूखी लगे पाठ की सामग्री तो ये उसे कदम-कदम पर रोचक बनाते हैं। इन चरित्रों के नाम हैं—उन्नी और मुन्नी।

पाठों की पाठ्य-सामग्री में भी नवीनता लाई गई है। संविधान के बारे में ज्यादा-से-ज्यादा जानकारी देने के बजाए संविधान के बुनियादी तर्क और वास्तविक जीवन में इसके प्रभावों पर जोर दिया गया है। इसमें संविधान की धारणा है, इसके निर्माण की प्रक्रिया है और इस पर होने वाले कामकाज की कथा भी है। कार्टून और कथारूप इसे पारम्परिक पाठ्यपुस्तकों से भिन्न बनाते हैं।

एनसीईआरटी के निदेशक कृष्णकुमार ने 'आमुख' में कहा है कि 'राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005' के अनुसार इन नई पाठ्यपुस्तकों की सामग्री बच्चों के स्कूली जीवन को बाहर के जीवन से जोड़ने का काम करती है। उनकी मान्यता है कि यदि जगह, समय और आजादी दी जाए तो बच्चे बड़ों द्वारा सौंपी गई सूचना-सामग्री से जुड़ कर और जूझ कर नए ज्ञान का सृजन करते हैं। उनका यह भी विश्वास है कि हम बच्चों को सीखने की प्रक्रिया में पूरा भागीदार मानें और बनाएँ, उन्हें ज्ञान की निर्धारित खुराक का ग्राहक मानना छोड़ दें। तभी उनमें सृजनात्मकता और स्वयं आगे आकर पहल करने की शक्ति विकसित होगी।

जो लोग पाठ्यपुस्तक निर्माण की प्रक्रिया का हिस्सा रहे हैं उन्हें पता है कि कितनी मेहनत से इस पर काम किया गया है और कितनी बारीकी से कार्टूनों के चयन पर ध्यान दिया गया है। कार्टूनिस्ट इरफान खाँ भी इस प्रक्रिया का हिस्सा रहे हैं। वे कहते हैं, 'किताब में छपे हर एक अक्षर से लेकर कार्टून तक पर कई-कई बार बैठक, विचार-विमर्श होता रहा। कार्टून से कोई ग़लत सन्देश बच्चों तक न पहुँचे और किसी कार्टून से शिक्षक या अभिभावक को परेशानी न हो, इन सब बातों का ध्यान रखा गया.... पूरी किताब निर्माण और कार्टून बनाने में तीन साल लग गए और छह साल से किताबें बच्चे पढ़ रहे हैं।' ('शुक्रवार' 25 मई, 2012, पृ. 23)

इतनी मेहनत से और इतने सोच-विचार से जिन पाठ्यपुस्तकों को तैयार किया गया और जिन्हें छात्र-छात्राएँ बड़े आराम से छह वर्षों से पढ़ रहे थे उन पर पिछले दिनों एक कार्टून के कारण विवाद खड़ा हो गया जिसमें संविधान निर्माण में देरी के कारण जल्दी करने की कोशिश का चित्रण है। एक छोटे से समूह ने जो बात उठाई देश के एक भाग में वह सभी दलों के सांसदों को इतनी प्यारी लगी कि पूरी संसद, शासकीय दल समेत, सरकार के पीछे पड़ गई। इतना हो-हल्ला और हुड़दंग हुआ कि बिना कोई पुस्तक पढ़े, बिना इस कार्टून को ध्यान से देखे और बिना उन पाठ्यपुस्तकों के निर्माताओं को इनका महत्त्व समझाने का अवसर दिए, सरकार इस हुड़दंग के आगे नतमस्तक हो गई। मानव संसाधन मन्त्री कपिल सिब्बल ने फैसला सुना दिया कि इस कार्टून वाली तमाम प्रतियाँ वापस ले ली जाएँगी, इस पुस्तक समेत अन्य पुस्तकों पर भी पुनर्विचार होगा, अवांछित कार्टून और अवांछित सामग्री यदि कोई होगी तो उसे निकाल दिया जाएगा। प्रो. सुखदेव थोराट की अध्यक्षता में एक समिति बना दी गई समाजविज्ञान और राजनीति विज्ञान की तमाम पुस्तकों पर पुनर्विचार के लिए।

अब एक और कार्टून पर विरोध की आवाज उठ गई है जिसमें भाषा-विवाद को व्यंग्यकार की टिप्पणी का मुद्दा बनाया गया है।

पहले जिस कार्टून पर संसद में विरोध की आवाज उठी वह कार्टून था 'शंकर्स वीकली' की प्रसिद्धि वाले विश्वविख्यात कार्टूनिस्ट शंकर पिल्लै का बनाया हुआ, जिसमें संविधान निर्माता डॉ. अंबेडकर एक घोंघे पर बैठे घोंघे की चाल तेज करने की दृष्टि से चाबुक ताने हुए हैं, पास जनता खड़ी घोंघे की मंथर गति पर नज़रें गड़ाए हुए है और घोंघे के पीछे खड़े जवाहरलाल नेहरू भी घोंघे की चाल तेज करने की दृष्टि से चाबुक ताने हुए हैं।

बाद में जिस कार्टून पर दक्खिन में आवाज उठी है वह है दक्खिन में हिन्दी भाषा शिक्षण के विरुद्ध हुए आन्दोलन पर की गई व्यंग्यात्मक टिप्पणी को ले

कर। चित्र में एक ब्लैक बोर्ड पर साफ लिखा हुआ अंग्रेजी में एक 'आश्वासन' (अस्योरेंस) है कि 'नो हिन्दी! इंग्लिश टु कण्टीन्यू! नो कंपल्शन टु लर्न हिन्दी! नो हिन्दी! इंग्लिश फॉर एवर! ईटीसी–ईटीसी', इस ब्लैक बोर्ड पर फेंकने को एक हाथ में पत्थर लिए नीचे और दूसरा हाथ पत्थर लिए ऊपर उठाए ब्लैक बोर्ड पर फेंकने को ताने हुए एक लड़का (विद्यार्थी) है जिसकी पीठ पर लिखा है 'स्टूडेंट एजिटेशन' (छात्र आन्दोलन)। ब्लैक बोर्ड के आजू-बाजू दो नेता खड़े हैं (राजगोपालाचारी एक तरफ और एक द्रविड़ मुनेत्र कड़गम नेता दूसरी तरफ)। ब्लैक बोर्ड व छात्र के पीछे खड़े लोगों में से एक कहता है—'द बॉय काण्ट रीड इंग्लिश अइदर!' (छोकरा अंग्रेजी भी तो नहीं जानता)। भाव यही है कि आन्दोलनकारी छात्रों में पढ़ने की पर्याप्त रुचि भी तो नहीं, हिन्दी पढ़नी नहीं है और अंग्रेजी भी ठीक से पढ़ी नहीं।

एमडीएमके के महामन्त्री श्री वाइको ने एनसीईआरटी के वर्तमान निदेशक प्रो. पी. सिन्क्लेयर को लिखा कि इस कार्टून को भी कक्षा 12 की राजनीति विज्ञान की पुस्तक से निकाल दिया जाए क्योंकि 1965 के हिन्दी विरोधी आन्दोलन में जिन विद्यार्थियों ने भाग लिया उन्हें यह कार्टून बहुत खराब रूप में (इन पूअर लाइट) चित्रित करता है।

अब सोचने की बात है कि व्यंग्य जितना तीखा और मारक होगा, तिलमिलाने वाला होगा उतना ही अधिक वह असरकारक होगा। कार्टून क्या है? व्यंग्यात्मक टिप्पणी ही तो है। एक ऐसी टिप्पणी जो सन्देश भी देती है, अर्थात् शिक्षा भी देती है और हास्य-विनोद भी पैदा करती है। पाठ्यपुस्तकों के प्रति हमें आभारी होना चाहिए जो उन्होंने रूखे-सूखे विषय को इन कार्टूनों के जरीए जानदार बनाया। पाठ में जान डाल दी और तब की राजनीति के प्रति जनता के मन की बात बताने वाले मीडिया का दृष्टिकोण भी विद्यार्थियों के सामने रख दिया। अखबारों की कतरनों का भी उपयोग हुआ और हाशिए पर दो पात्र उन्नी और मुन्नी के सवाल, टिप्पणियाँ व शंकाएँ देकर पाठ को रोचक, उत्तेजक और सहज बना दिया। देश के इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ और कई विद्वान् शिक्षाविदों, शिक्षाशास्त्रियों की सहमति व सरकार के समर्थन से हुआ। उस क्रान्तिकारी, नवाचारी, सर्वथा नवीन व साहसपूर्ण काम की ढाल बनकर सरकार को रक्षा करनी चाहिए थी किन्तु सरकार ने महाभूल की जो भावावेश की आँधी के एक हमले को भी झेल नहीं पाई और धैर्यपूर्वक तर्कपूर्ण ढंग से सामना करने की बजाए भावावेश के वातावरण में ही अपने ही किए काम पर पानी फेरने को तैयार हो गई। बात एक कार्टून की चली थी, सरकार तमाम कार्टून वापस लेने को तैयार हो गई। पूरी किताब ही वापस लेने की घोषणा कर दी। और बात चली थी एक किताब की, सरकार ने सभी किताबों

पर से आपत्तिजनक सामग्री ढूँढ़-ढूँढ़ कर हटाने का विचार करने को कमेटी बना दी प्रो. एस. थोराट की अध्यक्षता में। यह नहीं सोचा कि इससे पूरे शिक्षातन्त्र की कितनी हानि होगी, कितनी ग़लत परम्परा पड़ेगी और शिक्षकों के कार्य की लोग कितनी छीछालेदर करेंगे।

हम निडर होना सिखाते हैं, तर्क के सहारे विवेकवान बनना सिखाते हैं। जो बात सही नहीं लगे उसे सही नहीं कहने की शक्ति देते हैं। ये पुस्तकें इसी कारण आलोचनात्मक चिन्तन के नाना रूप लेकर आई थीं। राजनेता बोलते हैं, आम जनता अखबारों के माध्यम से शब्दों में और कार्टूनों में बोलती है, और सामान्य जन उलटी-सीधी वाणी में उन्नी और मुन्नी के मुख से बोलते हैं। शंका करना क्या कोई नकारात्मक भाव है? न संसद समझी और न राजनेता समझे कि शंका करना, आलोचना करना, और कभी अभिधा तो कभी लक्षणा-व्यंजना शब्द-शक्तियों का उपयोग करना भी सकारात्मक चिन्तन ही है। विचार की उत्पत्ति चिन्तन-मनन और आलोड़न-विलोड़न से होती है। इन पाठ्यपुस्तकों में भारतीय शिक्षा के इतिहास में पहली बार राजनीति के भीतर प्रवेश कर उसके चौक-चौबारे दिखाने-देखने का अभ्यास कराना आरम्भ हुआ था। एक चेतना लाने का उपक्रम हुआ था। स्वाभाविक है कि समाज का कोई एक कोना हिल उठा। हिलना ही था। हिला तो हिलने देते। जब सहिष्णु और साहसी बनाने की शिक्षा शुरू की थी तो विद्यार्थी को सहिष्णुता और साहस का सामर्थ्य ग्रहण करने देते। समाज को भी साहसी चिन्तन के साथ रहना सरकार सिखाती। शिक्षकों को स्वतन्त्रता दी थी साहसी चिन्तन का पाठ पढ़ाने की तो कहती सरकार समाज से कि डरो मत, निडर बनाना है अगली पीढ़ी को तो यह तो होगा। ढाल बन कर खड़ी हो जाती सरकार। साफ कहती सांसदों से कि पाठ्यपुस्तकों को निर्भीक वाणी दी है तो आपकी निर्भीक आलोचना भी उन पुस्तकों के निर्माताओं को पहुँचा दी जाएगी। वे विचार करने को सदैव तैयार हैं, वे आलोचनाओं का स्वागत करते हैं, लेकिन अन्तिम निर्णय हमारा नहीं उनका होगा, जिन्होंने वर्षों सोच-विचार कर करीब 3000 (तीन हजार) शिक्षकों व शिक्षाविदों से परामर्श विचार-विमर्श कर इनका निर्माण किया है। भावावेश का वातावरण थम जाने दो, शान्त वातावरण में धैर्यपूर्वक हम शैक्षिक दृष्टि से इस समस्या पर विचार करेंगे। सरकार ने ऐसा करने की बजाय उन पर एक ऐसी कमेटी बिठा दी जो सरकार के मनोनुकूल निर्णय दे सके। और वही हुआ। प्रो. एस. थोराट की अध्यक्षता वाली समिति ने अनेक कार्टून हटाने व कई शब्द व टिप्पणियाँ हटाने का निर्णय सुना दिया। यहाँ तक कि सामान्य जन का प्रतिनिधित्व करने वाले भोले-भाले अनाड़ी पात्रों उन्नी और मुन्नी के मुख में भी शंकाओं के शब्द बदलने का फैसला दे दिया। पाठ्यपुस्तकों को शक्तिहीन, प्रभावहीन, लिपलिपी

और लूली-लंगड़ी बनाने का फैसला सुना दिया। इरफान खां कार्टूनिस्ट को कार्टून बनाना पड़ा 'जनसत्ता' दैनिक में कि यह कमेटी 'हिज मिनिस्टर्स वॉइस' का काम कर रही है 'हिज मास्टर्स वॉइस' नाम की ग्रामोफोन कम्पनी की तर्ज पर। एक लेखक ने तो संसद पर ही टिप्पणी की कि संसद ने जो व्यवहार किया वह संसद स्वयं एक कार्टून बन जाने से कम नहीं है।

हम जानते हैं कि सरकार की मजबूरियाँ थीं, संकट था, किन्तु हमारी परीक्षा ऐसे वक्त में ही होती है जब हम पर संकट हो। यह वही सरकार है जिसकी मंशा थी कि पाठ्यपुस्तकों में सुधार आए, कोई नवाचार हो, घिसी-पिटी अतीतजीवी रूढ़िवादिता से वे बाहर निकलें, जानकारियों के लम्बे उबाऊ विवरणों से मुक्ति मिले पाठ्यपुस्तकों के पाठों को, और आलोचनात्मक चिन्तन का अंकुर फूटे विद्यार्थियों के दिल-दिमाग में। तभी तो 'राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा (नेशनल करीक्युलम फ्रेमवर्क) 2005' अस्तित्व में आई और उसी की रोशनी में अतीतजीवी पिछली पाठ्यपुस्तकों की जगह भविष्योन्मुखी उन नई पाठ्यपुस्तकों का निर्माण हुआ, जिनमें साहस, शक्ति और नवचिन्तन का संचार करने के अनेक उपाय थे, उपक्रम थे। उन सबको तहस-नहस करने के इरादे से सरकारी मन्तव्य का पालन करने वाली एक थानेदारी पुलिस वृत्ति की एस. थोराट कम्पनी इन मूल पाठ्यपुस्तक निर्माताओं के किए-धरे पर बिठा दी गई। अब बताइए, जो जनक थे, जो रखवाले व पहरेदार थे, जिन पर पाठ्यपुस्तक निर्माण के इस विराट्, संवेदनशील और सुन्दर सृजनात्मक कार्य की रक्षा की जिम्मेवारी थी, वे ही पल भर की धुआँधार आलोचनाओं से भयभीत हो कर पलट कर खुद की अपनी सृष्टि पर खुद ही वार करने लगे। यह कैसी शिक्षानीति है सरकार की कि अपनी ही योजना और नीति का बचाव नहीं कर सकी, ढाल नहीं बन सकी?

कहते हैं कि बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर को स्वयं इस कार्टून पर कोई आपत्ति नहीं थी। उनके पौत्र प्रकाश अम्बेडकर के शब्दों में—'यह कार्टून बाबा साहब के सामने बना था। उन्हें इस पर कोई एतराज़ नहीं था।' (राजस्थान पत्रिका, 22 मई, 2012, पृष्ठ 8)

एक टी.वी. चैनल के एडिटर-इन-चीफ राजदीप सरदेसाई ने लिखा—'कार्टूनों पर प्रतिबंध को राजनीतिक वर्ग के इस सन्देश के रूप में देखा जाना चाहिए कि वह अब किसी तरह की सार्वजनिक आलोचना को बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है।' (दैनिक भास्कर, 18 मई, 2012, पृष्ठ 6)

प्रसिद्ध चिन्तक, विचारक और पत्रकार राजकिशोर की राय है कि 'जिस कार्टून को लेकर यह सारा विवाद उठ खड़ा हुआ है, उसे सम्बन्धित पाठ्यपुस्तक से हटाने का फैसला करने का अधिकार किसका था? किसी भी दृष्टि से देखा

जाए, तो यह अधिकार शिक्षा या मानव संसाधन मन्त्री को नहीं है। खास तौर से तब तो नहीं ही, जब मानव संसाधन मन्त्री खुद कोई शिक्षाशास्त्री न हों। संसद को भी इस तरह का फैसला करने का अधिकार नहीं है क्योंकि बच्चों को क्या पढ़ाया जाना चाहिए और किस तरह पढ़ाया जाना चाहिए यह तय करने का काम शिक्षाविदों का है। कानूनविदों का नहीं।' (दैनिक राजस्थान पत्रिका, 19 मई, 2012, पृष्ठ 6)

देश के एक प्रमुख इतिहासकार प्रो. के.एन. पनिक्कर ने कहा है कि राजनेताओं का कार्टूनों पर आपत्ति करना समझ में आता है किन्तु दुर्भाग्य से थोराट समिति उनकी इस ग़ैर शैक्षिक दलील में व्यर्थ बह गई कि देश के नाना लोगों की संवेदनाएँ आहत होती हैं। इसमें कोई शक नहीं कि इतने बड़े देश में यह सम्भावना तो सदा रहेगी ही कि इन पाठ्यपुस्तकों के चित्रांकन व पाठों को समझने में व उनकी व्याख्या करने में भिन्नताएँ रहेंगी। इस कारण यह और भी जरूरी है कि छात्र ऐसे नाना अनुभवों से गुज़रें जिनकी भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ होती हों। इसका लाभ यह होगा कि उनमें जो पूर्वग्रह पहले निर्मित हो चुके होते हैं उनका निवारण हो जाएगा। लोगों की भिन्न धारणाओं को छिपाने से तो ये पूर्वग्रह और भी पुख्ता होंगे। जमे रहेंगे काई बन कर। दूर कैसे होंगे? पारस्परिक समझ, सहिष्णुता और नए भावबोध की सृष्टि में तो ये कार्टून और भी अधिक सहायक होंगे। ('द हिन्दू' अंग्रेजी दैनिक, 5 जुलाई, 2012, पृष्ठ 9)

किसी भी सही कार्टून का उद्देश्य मजाक उड़ाना या सस्ती और घटिया आलोचना करना नहीं होता है। पाठ्यपुस्तकों में हों चाहे अखबारों में हों, वे हँसाते तो हैं किन्तु हँसाने के साथ-साथ, जैसा कि इन पाठ्यपुस्तकों के सलाहकार प्रो. सुहास पाळशिकर ने कहा है, इनका उद्देश्य हमारे सामुदायिक जीवन के अन्तर्विरोधों को सामने लाना भी होता है। बाजदफा कार्टूनों के चित्रांकन शब्द से भी बड़ा असर करने वाले होते हैं क्योंकि कार्टून कला भी एक शक्तिशाली कला का रूप होती है। ('समयान्तर' मासिक, जून, 2012, पृष्ठ 7)

इन्हीं पाठ्यपुस्तकों के दूसरे सलाहकार प्रो. योगेन्द्र यादव ने 23 मई, 2012 को राज्यसभा टी.वी. पर कहा कि संसद में जिन्होंने डॉ. अम्बेडकर वाले कार्टून की आलोचना की थी उन्होंने उसे ध्यान से देखा होता तो उन्हें साफ पता चल जाता कि नेहरूजी की नज़रें और दर्शकों की भी नज़रें बता रही हैं कि चाबुक का निशाना घोंघा है, न कि अम्बेडकर। और अम्बेडकर के खुद के हाथ में भी तो चाबुक है, वे किसे हाँक रहे हैं? उनका भी तो लक्ष्य घोंघा ही है। फिर अम्बेडकर का अपमान कैसे हो गया? राज्यसभा टी.वी. की उसी परिचर्चा में प्रो. कृष्णकुमार (पूर्व निदेशक, एनसीईआरटी) ने भी कहा था कि अब रटंत विद्या के पाठ नहीं

हैं, समझ विकसित करने के पाठ हैं। बच्चा परिपक्व बनता ही तब है जब उसके सामने भिन्न विचार रखे जाएँ। हकीकत तो यह है कि इन किताबों को देखकर अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर कहा गया कि वास्तव में भारतीय प्रजातन्त्र अब परिपक्व हुआ है।

एक पहलू और इस प्रकरण का। एक माननीय सांसद ने एक टी.वी. चर्चा में कहा, 'यह सरकारी किताब है।' जबकि वास्तविकता यह है कि किसी भी लोकतन्त्र में जब स्वायत्त संस्थाओं को जिम्मेवारी सौंपी जाती है तब वह उनका काम उनका होता है, उसे सरकारी न बनने देना ही उनकी बड़ी जिम्मेवारी होती है। ('समयान्तर' मासिक जून, 2012, पृष्ठ 7)

स्वायत्तता देने का तात्पर्य ही यही होता है कि वह संस्था स्वतन्त्र चिन्तन करेगी और उसमें, और उसके साथ, काम करने वाला प्रत्येक व्यक्ति एक सरकारी नौकर के रूप में नहीं बल्कि एक स्वतन्त्र चिन्तक के रूप में काम करेगा। जब सीधा सरकारी हस्तक्षेप होगा तब स्वायत्तता नहीं रहेगी। एक स्वायत्त संस्था का निर्माण सरकार कर देती है, प्रबन्ध समितियाँ बना देती है, निदेशक नियुक्त कर देती है। विशेषज्ञता का दावा कोई एक व्यक्ति नहीं करता, कई विशेषज्ञों व शिक्षाशास्त्रियों के संयुक्त प्रयास से ये पाठ्यपुस्तकें बनती हैं। कोई भी वस्तु अन्तिम नहीं होती। लेकिन इतनी सावधानी से स्वतन्त्र चिन्तन और स्वायत्त कार्यविधि का जो मार्ग हम चुनते हैं उसी मार्ग से उस कार्य में सुधार और उस पर पुनर्विचार का कार्य होना चाहिए। पुस्तकों का निर्माण करे कोई एक समूह और उन पर पुनर्विचार करे कोई दूसरा समूह, तब तो बात बिगड़नी ही है।

हमें विश्वास करना चाहिए कि थोराट समिति ने जो रिपोर्ट मानिटरिंग कमेटी को सौंपी है उस पर मूल सलाहकारों और पाठ्यपुस्तक समिति के मूल सदस्यों की राय के प्रकाश में ही कोई अन्तिम निर्णय लिया जाएगा। ऐसा निर्णय जो एनसीईआरटी की स्वायत्तता व स्वतन्त्रता की भी रक्षा करे और भावनात्मक झंझावात से ऊपर उठकर शिक्षाशास्त्रीय दृष्टि से शिक्षक समुदाय की गरिमा की रक्षा करते हुए साहस का परिचय दे तथा जो निर्णय करे वह 'राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005' की मूल दृष्टि के अनुसार शैक्षिक आधारों पर हो। इन पुस्तकों को बनाने वालों ने 'राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005' की शिक्षाशास्त्रीय दृष्टि व निर्देश का पूरा पालन किया है। थोराट कमेटी की अनुशंसाओं का इनसे मेल न खाता हो तो निर्भीकतापूर्वक उन्हें अस्वीकार कर देना चाहिए। कोशिश करें कि हम रवीन्द्रनाथ टैगोर को याद करते हुए निर्भय बनें और सिर ऊँचा रखें। आशा करते हैं सरकार शिक्षा की ढाल बनेगी।

पुराना पड़ चुका इल्म

आजकल भारत सरकार ने रघुवीरी हिन्दी छोड़कर हिन्दी में अंग्रेजी शब्दों के घालमेल को (जरूरी हो वहाँ) मंजूरी दे दी है। इस पर जो बहस हो रही है उस पर आप ध्यान रखें तो आपका बौद्धिक स्तर ऊँचा उठेगा। आप में से कुछ इस राय के हो जाएँगे कि भारत सरकार ने यह निर्णय सही लिया है, कठिन शब्दों के अर्थ कहाँ-कहाँ ढूँढ़ते फिरें? अंग्रेजी शब्द जो रोज सुनते हैं सीधे-सीधे वही लिखने लगेंगे तो फौरन समझ में आ जाएगा। दूसरी तरफ आप में से कुछ की राय यह बनेगी कि भाषा में कठिन क्या और सरल क्या, प्रयोग करोगे तो कठिन से कठिन शब्द जबान पर चढ़ जाएगा। यह बहस बहुत रोचक है। इस पर जहाँ भी हम कुछ देखें उसे पूरे ध्यान से हमें जरूर पढ़ना चाहिए। हमें ज्ञान होगा कि क्या-क्या दलीलें किस-किस तरफ से दी जा सकती हैं। यह खाली भाषा शिक्षक का ही कर्तव्य नहीं है कि इस बहस को पढ़े और समझे बल्कि अपने ज्ञान को बढ़ाने की इच्छा रखने वाले हर शिक्षक को इस तरफ ध्यान देना चाहिए। आपको याद होगा जब संविधान का निर्माण हुआ था तब छोटी से छोटी कक्षाओं को पढ़ाने वाले मामूली हैसियत के कई तृतीय श्रेणी शिक्षकों ने भी अखबारों में आई पूरी की पूरी संविधान शब्दावली अपनी कापी में लिख डाली थी। जब तृतीय श्रेणी वालों में इतनी तीव्र जिज्ञासा थी तो उनसे भी ऊँचे स्तर के शिक्षकों व शिक्षाधिकारियों ने भी यही कसरत जरूर की होगी। जो अपने ज्ञान के स्तर को उठाना चाहते हैं वे ऐसा ही करते हैं। नए ज्ञान का पदार्पण होता जहाँ भी देखते हैं उसे लपक लेने को उत्सुक हो उठते हैं।

यों जो होता है उसे कहते हैं अपने आपको अपडेट करना। यह करने को हमें कोई कहता नहीं है। हममें रुचि है तो हम स्वयमेव ऐसा करते हैं। अपने स्तर को ऊँचा उठाते हैं। जो ऐसा नहीं करते हैं उन्हें प्रेरित करने को शिक्षा विभाग तरह-तरह के सेमिनार, संगोष्ठियाँ और प्रशिक्षण करता है।

आम शिक्षक जब यों प्रयत्नशील रहे तो वह खास शिक्षक हो जाता है। हम आम हैं लेकिन चाहें तो हम खास भी बन सकते हैं। हमारी मर्जी हो तो मर्जी के मालिक तो हम ही रहेंगे। किसी के दबाव में ऐसा करेंगे तो उसमें वह आनन्द नहीं

रहेगा, वह गुणवत्ता भी नहीं रहेगी जो स्वेच्छा से किए गए अपडेट के कार्य में सम्भव है।

टैट (TET–Teacher Eligibility Test) परीक्षाओं की कल्पना इसीलिए की गई है कि हम अपडेट रहें। अपडेट का मतलब है जागते रहें, सोएँ नहीं। एक बार बी.ए.-एम.ए. कर लिया या बी.एड.-एम.एड. कर लिया और सो गए। जान लिया जितना जानना था, अब क्या जानना है? जो पाठ एक बार पढ़ाया है वही तो हर साल पढ़ाना है, बार-बार पढ़ाना है। यह जड़ता की प्रवृत्ति प्रायः अधिकतर शिक्षकों में आ जाया करती है, उसे रोकना है। रोकने का इशारा अभी तो टैट के आयोजन से हुआ है, आगे अभी और कई आयोजन होंगे। विभाग, और ऊँचे-ऊँचे शिक्षण संस्थान, ज्यों-ज्यों विचार करेंगे शिक्षकों को अपडेट रहने को उत्प्रेरित करने पर, त्यों-त्यों नए-नए कार्यक्रम बनेंगे हमारे सतत अपडेटीकरण में सहायता करने के लिए।

अखबारों में आपने पढ़ा होगा कि अब डॉक्टरों को भी होना पड़ेगा अपडेट। अब तक तो दवाइयों के एजेंट आ-आ कर अपनी-अपनी दवाइयों से इन्हें अपडेट किया करते थे और कोई साधन या कार्यक्रम नहीं था उन्हें अपडेट होने का। स्वेच्छा से तो वे कोई मेडिकल पत्रिका भी नहीं पढ़ते थे। अब उन्हें उनके क्षेत्र में दिन प्रतिदिन होते बदलाव के प्रति भी अपडेट रहना होगा, ऐसा विचार हो गया है मेडिकल काउंसिल ऑफ इण्डिया का। डॉक्टरों के पाँच वर्षीय रजिस्ट्रेशन के नवीनीकरण के लिए अधिकृत सतत चिकित्सा शिक्षा कार्यक्रम (सी.एम.ई.) के प्रमाण-पत्र की अनिवार्यता लागू करने की बात चल रही है। इसके अनुसार रजिस्ट्रेशन के नवीनीकरण के लिए पचास घण्टे की सी.एम.ई. के प्रमाण पत्र लगाने पड़ सकते हैं। विश्व के कई देशों में यह बाध्यता लागू है। राजस्थान मेडिकल काउंसिल ने प्रदेश में पहली बार डॉ. एस.एन. मेडिकल कॉलेज में पिछले दिनों सम्पन्न हुई इंडो-केनेडियन सी.एम.ई. को छह घण्टे के लिए अधिकृत किया है। इसमें भाग लेने वाले सभी डॉक्टरों को इसका अधिकृत प्रमाण-पत्र दिया गया है। सी.एम.ई. के माध्यम से डॉक्टर चिकित्सा जगत् के नए-नए ज्ञान से रूबरू हो सकेंगे। सी.एम.ई. को सम्बोधित करने वाले विशेषज्ञों से नई जानकारियाँ प्राप्त कर सकेंगे। इस तरीके से पाँच वर्ष की अवधि में विभिन्न संस्थानों में आयोजित होने वाले सी.एम.ई. में भाग लेकर प्रमाण-पत्र एकत्र करने होंगे।

शिक्षण कार्य की चिकित्सा कार्य से तुलना कुछ ही अंशों में हो सकती है, अधिक नहीं। लेकिन चिकित्साकर्मियों के ज्ञान को अपडेट करने वाला निर्णय शिक्षाकर्मियों को जगाए बिना नहीं रहेगा। सतत शब्द पर ध्यान दीजिए। हर पाँच वर्ष बाद वे रजिस्ट्रेशन का नवीनीकरण करने की बात कर रहे हैं। सीधे-सीधे उनका

अनुसरण करें तो हमारा बी.एड. या एसटीसी भी हर पाँच वर्ष बाद नवीनीकरण कराना होगा। देखें हमारे रहनुमा विद्वान् प्रशिक्षक व प्रबन्धक क्या विचार करते हैं किन्तु हमें भी सोचना चाहिए कि हमारे लिए क्या करना उपयुक्त रहेगा। कौन जाने हमारे सुचिन्तित सुझाव पर हमारे विद्वान् प्रशिक्षक व प्रबन्धक ध्यान दे दें।

हमें ज्ञात है कि हमने शिक्षकों को शिक्षा प्रणाली में पारंगत बनाने के उद्देश्य से शि.प्र. विद्यालयों की स्थापना कर दी है, कि हमने पत्राचार से प्रशिक्षण का भी कोटा विश्वविद्यालय तथा इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय (इग्नू) के पत्राचार कार्यक्रमों द्वारा घर बैठे शिक्षक-प्रशिक्षण का प्रबन्ध कर दिया है, कि हमने शिक्षण प्रणालियों पर लगातार चिन्तन-मनन व अध्ययन-अनुसंधान द्वारा परिष्कार के लिए केन्द्र में एनसीईआरटी तथा राज्यों में एससीईआरटी (या राजस्थान में एसआईईआरटी) कायम कर दी है जो कई प्रकार के कार्यक्रमों द्वारा शिक्षण सम्बन्धी ज्ञान का प्रसार करती रहती है। यह सब तो है किन्तु यह सब कितना कहाँ क्या परिवर्तन माँगता है यह भी तो कभी विचार करना चाहिए।

आइये, इस पर विचार से पहले हम इस दिशा में खड़ी एक बड़ी कठिनाई पर भी नज़र डाल लें। कठिनाई यह है कि ज्ञान कैसा, कितना, कब का? पल-पल में परिवर्तन हो रहा है, कितना दौड़े शिक्षक इन नए परिवर्तनों के साथ? मायूस होने की जरूरत नहीं है, सोचेंगे हम भी कोई उपयोगी दिशा के अनुसंधान की बात, लेकिन एक इस आवाज को भी सुन लें जो वाराणसी की उर्दू पत्रिका 'नई सदी' के पन्नों से आ रही है जिसके सम्पादक हैं श्री रौशनलाल रौशन। शायद यह उन्हीं की आवाज़ है जो उनकी पत्रिका के हाल के दसवें अंक में शाया हुई है। सुनिए—

'...तो जनाब बात हो रही थी, हमारी यूनिवर्सिटियाँ और तालीम के निजाम के हवाले से। तो अर्ज़ है कि तालीम की ईजाद ही इसलिए की गई थी कि पुरानी पीढ़ी अपनी जरूरी जानकारियों को नई पीढ़ी तक मुन्तकिल कर दे। शुरू के दिनों में इसका बुनियादी मक़सद यही था, अब भी किसी हद तक यही है। बाप ने जो जाना है, वो अपने बेटे को देना चाहता है। फिर दुश्वारी ये हुई कि जानकारियाँ इस क़दर बढ़ गयीं कि बाप इस काम को खुद नहीं कर सकता था, नहीं तो वो इस काम के अलावा ज़िन्दगी में दूसरा कोई काम न कर सके, तो फिर दरमियान में नौकर रखे गए कि भई, तुम ही इसको जानकारी दे दो। इन्हीं मुलाजिमों को हम आज उस्ताद कहते हैं, बल्कि पेशेवर उस्ताद कहा जाए तो ज़्यादा दुरुस्त है।

'अब अस्ल मुद्दए की तरफ लौटो और जरा पकड़ो इस सिरे को, इसी में पूरा राज छिपा है निजामे-तालीम का। उस्ताद मुलाज़िम है बाप का, बेटे को जानकारी देने के लिए ट्रेंड करने के लिए। ख़याल रखना, उस्ताद लड़के का मुलाज़िम नहीं है; बल्कि बाप का मुलाज़िम है, इसलिए जो बात बाप के हक में ज्यादा दुरुस्त

है, वही बेटे को सिखायी जाती है। बाप तय करता है कि बेटा क्या सीखेगा। यही वजह है कि रूस में कुछ सिखाया जाता है तालिबे-इल्म को, अरब में कुछ और, अमेरिका में कुछ और, हिन्दुस्तान में कुछ और। लेकिन इसके बरअक्स मौजूद में जो कुछ पेश आता है बेटे के सामने जरूरी नहीं कि वो बाप के हक़ में हो, वो बेटे के हक़ में ज्यादा मुफीद हो सकता है।

'ख़लील जिब्रान ने एक बड़े पते की बात कही थी कि अपने बच्चों को मुहब्बत देना, आजादी देना, मगर अपना इल्म हरगिज़ मत देना, क्योंकि तुम्हारा इल्म उसके लिए पुराना पड़ चुका होगा। बच्चे नए हालात से दो-चार होंगे, इसलिए तुम्हारा इल्म उनके लिए कार-आमद नहीं होगा। वजह यह है आज से तीन हजार साल पहले, दो हजार साल पहले, बाप और बेटे की जानकारी में कोई फर्क नहीं होता था, इसलिए तालीम का निजाम बिल्कुल दुरुस्त था, लेकिन फिर इल्म का जखीरा बढ़ा तो बाप के लिए मुश्किल हो गई, लिहाज़ा बच्चों को इकट्ठा करके स्कूल कायम कर दिए गए।

'इस लिहाज से निज़ामे-तालीम की बड़ी अहमियत थी माज़ी में, लेकिन अब धीरे-धीरे उसकी अहमियत पूरी तरह ख़त्म होती जा रही है। यही वज्ह है कि अब हमारी यूनिवर्सिटियों की तालीम हमारे लिए रहनुमा कम, गुमराहकुन ज़्यादा होती जा रही है। वज्ह ये है कि रोज नए हादसे, रोज नए मस्हले हमारे सामने नए तरीक़े से नूमूदार होते हैं। इल्म इतनी तेजी के साथ फैल रहा है कि उसे पकड़ पाना, सम्भाल पाना, मुहाल है। आप देख ही रहे हैं कि पिछले पाँच हजार बरस में जितना इल्म इन्सानी नस्ल ने सीखा था या हासिल किया था, उतना तो पिछले पचास बरस में हमने जान लिया और जितना पचास बरस में लोगों ने जाना, उतना पिछले पाँच बरस में नई नस्ल ने हासिल कर लिया और अब मुम्किन है उतना इल्म पाँच माह में ही जान लिया जाए.... इसलिए मैं कह रहा हूँ कि तालीम का निजाम भी रफ़्ता-रफ़्ता बेमानी साबित हो रहा है। भविष्य में मुम्किन है, पेशेवर उस्ताद, यूनिवर्सिटीज और डिग्री कॉलेजेज से पूरी तरह रुख़सत हो जाएँ। उनकी जगह कम्प्यूटर होंगे, क्योंकि आदमी को सीखने और सिखाने में बहुत वक़्त लगता है...।' ('शेष' जोधपुर, जनवरी-मार्च, 2012 से उद्धृत)

यह कठिनाई आपने सुन ली। हकीकत है यह भी। लेकिन इसमें भी कोई शक नहीं कि आज जो साधारण सा सामान्य शिक्षक है वह यदि आलसी नहीं है तो अपने ज्ञान के स्तर को जरूर उठाना चाहेगा। जरूर वह आम से खास बनना चाहेगा। प्रगति इसी को कहते हैं।

प्रसिद्ध गायक जगजीत सिंह के पिछले दिनों हुए निधन के प्रसंग में उनकी गायन शैली का विवेचन करते हुए वागर्थ में श्री प्रमोद शाह कहते हैं कि जगजीत

सिंह ने आम और खास दोनों के लिए गाया। लेकिन वे पूछते हैं कि यह आम और खास है क्या बला? और फिर खुद ही उत्तर देते हैं—'आम श्रोता वह होता है, जो अपनी समझ का विकास करने का कोई अतिरिक्त प्रयास नहीं करता... खास श्रोता वह होता है जो गायक के साथ-साथ खुद भी मेहनत करता है। वह गम्भीर शाइरी पढ़ता है, चर्चा करता है, उस पर चिन्तन करता है। आवश्यक होने पर शब्द-कोश भी देखता है, विद्वानों की संगत करता है, उस पर चिन्तन करता है। एक तड़प रखता है।' ('वागर्थ' कोलकाता, जनवरी, 2012)

देखा आपने, एक गायक का संगीत सुनने समझने के लिए कितनी आवश्यकताओं की अपेक्षा की है प्रमोद शाह ने। अपने विद्यार्थी को भी ठीक से समझने के लिए हमें भी कम तैयारी नहीं करनी है। इसके लिए हमसे भी कितनी ही तैयारियों की अपेक्षा हो सकती है, होना बुरा भी नहीं। हम सब जानते हैं यह। हम भी हमारे विषय का गम्भीर अध्ययन करें, अपनी समझ का विकास करें, उसके लिए अतिरिक्त प्रयास करें। हम पढ़ें, चर्चा करें, विद्वानों की संगत करें, शिक्षा और शिक्षण सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन करें और चिन्तन भी करें। एक तड़प रखें।

यह सब एक बार एसटीसी या बी.एड.-एम.एड. कर लेने से सम्पन्न नहीं हो जाता है। हो भी नहीं सकता है। और मैं तो यह कहूँगा कि सेवा पूर्व प्रशिक्षण ही बन्द कर दिया जाना चाहिए। सेवारत समय में ही अपडेट होते रहने के लिए कोई सतत शिक्षक-प्रशिक्षण के छोटे-बड़े कार्यक्रम आयोजित करने की हमें नई परम्परा डालनी है। उन छोटे-मोटे प्रमाण पत्रों पर भी क्या और कितने सांकेतिक भौतिक या वित्तीय उत्प्रेरक किस रूप में दिए जाएँ यह भी हम सोचेंगे। फिर कभी।

आज तो इतना ही है कि हमें प्रशिक्षण संस्थानों की, एनसीईआरटी तथा एससीईआरटी (एसआईईआरटी) की कायापलट करनी है। इनके तौर-तरीके बदलने हैं। मेडिकल काउंसिल ऑफ इण्डिया ने 'अपडेट' का संकेत दिया है उसे ध्यान में रखकर हमें हमारी कार्यपद्धति का नवीनीकरण करना है। पुराने पड़ चुके इल्म का रूप परिवर्तन करना है। वहाँ रजिस्ट्रेशन का नवीनीकरण होगा, हमारे यहाँ हम सेवा पूर्व प्रशिक्षण डिग्रियाँ रखेंगे ही नहीं। यह एक क्रान्तिकारी कदम हमें उठाना है। सेवा पूर्व प्रशिक्षण के प्रमाण पत्रों व डिग्रियों की आवश्यकता समाप्त कर सेवारत प्रशिक्षण कार्यक्रमों के नए-नए रूप स्थापित कर शिक्षक को सतत जागरूक रह कर 'अपडेट' होते रहने में मदद कैसे करें, इस पर विचार करना है। विस्तार से। फिर कभी।

एक वानप्रस्थी शिक्षक—अन्त में एक कहानी पाक्षिक पत्रिका 'तहलका' (एम-76, एम ब्लॉक मार्केट, ग्रेटर कैलाश-2, नई दिल्ली 110048) से जहाँ

मैंने पढ़ा कि मुम्बई में वित्तीय सलाहकार का काम करते श्री गोपालकृष्ण स्वामी ने सेवा-निवृत्त हुए तो 1995 में अपना सब-कुछ बेच कर सिर्फ दो सूटकेसों के साथ शान्ति की तलाश में उत्तराखण्ड का रुख किया। साथ में थी उनकी पत्नी चेन्नी। दोनों ने डेरा डाला मसूरी की तलहटी में बसे एक गाँव पुरुकुल में। पता चला कि हिन्दी माध्यम से पढ़ने वाले गाँव के बच्चों को अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों में जाने पर भाषा की समस्या आती है तो उन्होंने बच्चों को अपने ही घर पर अंग्रेजी और गणित पढ़ाना शुरू कर दिया। इस सांध्य स्कूल में पहले चार बच्चे थे। आज 240 बच्चे हैं। नौवीं तक पढ़ाई है। बारहवीं तक भी जल्दी ही कर देने की योजना है। भोजन और ड्रेस मुफ्त। समय-समय पर स्वास्थ्य परीक्षण भी। स्वामी गोपालकृष्ण के स्कूल में आने वाले बच्चों में से कई आज जीवन में काफी आगे बढ़ गए हैं। संस्था का नाम रखा है—'पुरुकुल यूथ डेवलपमेंट सोसायटी'।

स्वामी की पत्नी ने 'पुरुकुल स्त्री शक्ति समिति' शुरू कर दी। माताओं को गाँव में ही रोजगार मिले यह इसका उद्देश्य है। यहाँ महिलाओं को हाथ के काम वाली खूबसूरत रजाइयाँ बनाना सिखाया जाता है। हर महिला इससे प्रतिमाह 3 से 5 हजार रुपये तक की कमाई कर लेती है। उनके छोटे बच्चों के लिए श्रीमती चेन्नी ने 'शिशु शक्ति' नाम का एक 'पालना स्कूल' भी खोल दिया है। माताएँ आएँ तो बच्चे कहाँ रहें? उनकी भी शिक्षा व लालन-पालन का प्रबन्ध इस 'पालना स्कूल' में हो जाता है। अभी 45 बच्चे अपनी माताओं के साथ इस स्कूल में आते हैं। स्वामी दम्पती ने इन नन्हे नौनिहालों का भी पूरा ध्यान रखा है।

इन तीनों संस्थाओं के लिए धन व्यक्तिगत दान से इकट्ठा होता है। प्रधानाचार्या इन्द्राजी लहरी बताती हैं—कई बार लगता है कि अगले महीने हम अध्यापकों का वेतन भी दे पाएँगे या नहीं।

काश, जीवन भर सफलतापूर्वक काम-धन्धा कर चुके हर पेशेवर लोग इसी तरह अपने जीवन के वानप्रस्थाश्रम का समय देश के किसी एक गाँव में इस तरह का कोई गुरुकुल बनाने में लगाते!

शिक्षा, सहिष्णुता और प्रतिपक्ष

वेग, आवेग और आक्रोश तो मामूली बात से भी आ जाता है। इसका आरम्भ झल्लाहट में होता है। कोई हमारी बात न माने तो पहली झल्लाहट वहाँ 'ना' सुनने में होती है। हमारे अहं को चोट लगती है। लेकिन पहले से सावधान रहें तो चोट नहीं लगेगी। अधिक सावधान रहें और अहं हो ही नहीं तो कैसा रहे? विद्या से विनय आता है। विनय है तो अहं होगा ही नहीं। यही बात हम भूल जाते हैं। क्यों भूल जाते हैं? याद रखें तो क्या बुरा है? याद रखें तो बुराइयों का समूल नाश हो जाता है। मामूली सा काम, मामूली सी बात, लेकिन कितना बड़ा लाभ? झुंझलाहट कभी नहीं होगी। वेग, आवेग, आक्रोश, कुछ भी नहीं आएगा।

विनय अन्तरंग में स्थापित हो जाना जरूरी है। हमें यह याद रखना चाहिए कि शिक्षा के क्षेत्र में विरोधी धाराओं का अधिक स्वागत हुआ करता है। शिक्षा का सच्चा भाव जहाँ है वहाँ प्रतिपक्ष की कीमत ज्यादा है। जहाँ प्रतिपक्ष भाव की कीमत ज्यादा हो वहाँ सहिष्णुता का स्थान भी ऊँचा होता है। हमारी सहज प्रवृत्ति यह होती है कि हम 'ना' सुन नहीं सकते। 'ना' हम सुनना नहीं चाहते। लेकिन जब हम सच्चा शिक्षा तत्त्व ग्रहण कर लेते हैं तो 'ना' के लिए पलक पाँवड़े बिछाने को तैयार हो जाते हैं। यही मोंटेसरी की ग्रहणशीलता है।

गुरु-शिष्य के बीच की अन्तःक्रिया का ध्यानपूर्वक अवलोकन होता रहे तो शिक्षक को स्वयं सीखते रहने के कई अवसर मिलते हैं। बच्चे के हर टेढ़े-मेढ़े व्यवहार को अनुशासनहीनता मानने की ग़लती हम कई बार कर बैठते हैं। आँखें खुली रखें, मन में सीखने का भाव रखें तो हम जान सकते हैं कब हमें उद्वेलित नहीं होना है।

शिक्षक का चौखटा—मैं जब शैक्षिक पत्रिका 'शिविरा' का सम्पादन करता था तब इसमें मैंने डॉ. सम्पूर्णानन्द के उस भाषण को प्रमुखता के साथ विशेष महत्त्व देकर बहुत बड़े आकार के टाइप का शीर्षक देकर छापा था, जिसमें उन्होंने 'ना' कह सकने के साहस पर—और 'ना' सुनने की शक्ति पर—बल दिया था। प्रायः लोगों में असहमति सुनने की शक्ति ही नहीं होती है। शिक्षक भी बंधे-बंधाए चौखटों के भीतर ही विद्यार्थी के व्यवहार को देखना चाहता है।

बच्चे की टाँग एक ही दशा में रहने से अकड़ जाए तो वह उसे सीधी भी नहीं कर सकता। उदयपुर काण्ड याद करें। रोंगटे खड़े हो जाएँगे। कदम-कदम पर अनुशासन के डण्डे हैं—गृह-कार्य नहीं किया, डण्डे। पास बैठे विद्यार्थी की कापी से नकल की, डण्डे। बेंच पर खड़े होने को गुरुजी ने कहा और खड़े नहीं हुए, डण्डे। मतलब, मास्टर का डण्डा जब देखो तब तैयार है। डण्डे बिना मास्टर के किसी स्वरूप की कल्पना ही नहीं की जा सकती। मोंटेसरी और गिजुभाई के पहले हर कहीं यही हाल था, फिर कुछ बदला। पर पूरी तरह अभी नहीं बदला है। उसे बदलना है।

अनिल बोर्दिया भारत सरकार के शिक्षा सचिव रहे, नई शिक्षा नीति के निर्माताओं में अग्रणी थे, किन्तु वे भी एक कस्बे के विद्यालय में भाषण देने खड़े हुए तो हॉल के मंच से दिखाई दे रहा था कि छात्रों को डण्डे पड़ रहे थे—छात्रों को हॉल की खिड़कियों से दूर रखने को या हॉल के भीतर लाने को, पता नहीं। हमें तो उन शिक्षकजी के हाथ का डण्डा चलता दिखाई दे रहा था। उन शिक्षकजी को क्या पता कि अच्छी शिक्षा-नीतियों, सिद्धान्तों के तमाम अन्वेषी संवेदनहीनता के सख्त खिलाफ होते हैं और डण्डे का प्रयोग गर्हित मानते हैं।

आँख में असर—शिक्षा में दण्ड या डण्डा सर्वथा शून्य हो, क्या यह सम्भव है? शून्य होना कितना ही कठिन हो हमें सदा-सर्वदा इसे सम्भव बनाने को ही अपना परम ध्येय रखना है। वैसे आँख में अधिकार की—गुरुत्व की—मुद्रा भी एक किस्म का डण्डा ही है, आध्यात्मिक डण्डा या सात्त्विक डण्डा, बशर्ते कि आप इसे सही रूप में काम में ले सकें। मेरे एक अधिकारी कम बोलते थे, सौम्य थे, लेकिन जब मातहत का विचलन देखते तो हलके से ऐसी आँख तरेरते कि मातहत अनावश्यक बोलना बन्द कर फौरन काम की बात करने लगता था। वास्तविक असहमति हो तो उसे वे पहचानते थे, उसका स्वागत-सम्मान करते थे, खूब धैर्य से प्रतिपक्षी तर्क सुनते थे। वास्तविक असहमति और थोथी होशियारी या चापलूसी-चालाकी का अन्तर वे भली-भाँति पहचानते थे।

इसका विपरीत उदाहरण देखा मैंने उस अधिकारी में जो पूर्व वर्णित अधिकारी-सी निर्वैयक्तिक प्रशासनिक क्षमता नहीं रखते थे। नितान्त वैयक्तिक अति भावुक भोले शम्भु ही बने रहते। लोक को बड़ा मानते, लोक के सामने सदैव बिछे रहते थे, सम्पूर्ण भावोद्रेक के साथ। सबका मान-सम्मान ऊँचा है ऐसा भाव आस्तीन पर ताबीज की तरह चढ़ाए रहते थे। सबको खुश करने की उद्यतता में कोई खुश न रहा था और पूरे स्कूल में अराजकता फैल गई थी।

आँख में असर हो तो कैसे हो? बड़ा कठिन है इसकी व्याख्या करना। शायद गम्भीरता, निष्ठा, निर्वैयक्तिकता, वस्तुगतता, निर्भीकता व निःस्वार्थता आदि का ही यह एक पुंजिभूत रूप है। यह बाबोसा का भाव है। अधिकारी में भाईजी,

ताऊजी या बाबोसा का भाव हो, बुजुर्गाना बड़प्पन हो, तो जरूर हो, लेकिन सहिष्णुता व उदारता के साथ।

शिक्षक की शक्ति—'ना' सुनना, या हमारी राय के विपरीत किसी का व्यवहार देखना, बहुत बुरा लगता है जैसे किसी ने माथे पर हथौड़ा दे मारा हो। इसे आप सही रोशनी में लें और सहिष्णुता रखें तो वह कमजोरी नहीं है। लोग प्रायः इसे कमजोरी मान लेते हैं। कमजोरी है या सहनशीलता है यह, ध्यान से देखो तो साफ दिखाई दे सकता है। पर मुख्य बात तो खुद के समझने की है। हमें ज्ञात होना चाहिए कि दुनियादारी में जो बात प्रायः कमजोरी मानी जाती है वही शिक्षक की शक्ति है। वह शक्ति है जब हम सचेत हों, जानते हों कि हम क्या कर रहे हैं, और जिनसे हम व्यवहार कर रहे हैं उन्हें भी यह ज्ञात हो कि हम क्या कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं।

यह सब पेचीदा नज़र आएगा, पर पेचीदा है नहीं। भरोसे का बल हो तो सब साफ है। आत्मविश्वास पूरा हो तो यह आपके व्यक्तित्व का सबल पक्ष है। कोई 'ना' कहे तो हर माँ-बाप या शिक्षक को धक्का लगता है पर दो पल में सहज होकर 'ना' को स्वीकार कर लें तो गहरी शान्ति और सन्तोष की प्रतीति होती है। एक 'नया' अनुभव होता है।

साहस और अभ्यास—कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हम सिद्धान्त रूप से 'ना' सुनने की महत्ता के पक्ष में तो होते हैं किन्तु 'ना' सुनने का जब मौका आता है तब धीरज खो देते हैं। ऊपर से सहन भी कर लेते हैं तो भी भीतर बहुत कष्ट पाते हैं। अभ्यास को उद्यत हो जाइए। यह भीतर कष्ट पाना भी बन्द हो जाएगा। भीतर पल भर भी कष्ट न पाएँ तो वह उपलब्धि है। वैसे 'ना' कहने, सुनने और सहने का यह अन्तर्द्वन्द्व जीवन भर चलता है, चलता रहना चाहिए। कोई हमारा मातहत है तो हम भी किसी के मातहत होंगे। कोई हमारा विद्यार्थी है तो हम भी किसी के विद्यार्थी होंगे। नौकरी में अपने 'बॉस' को (प्रधानाध्यापक या शिक्षाधिकारी को) और विद्यालय में अपने शिक्षक को 'ना' कहने का भी साहस होना चाहिए, साहस करने देने की छूट देने का भी साहस होना चाहिए।

हम जहाँ भी हों, 'ना' कहने, सुनने और सहने का साहस हो तभी शिक्षा सही काम करेगी। कोई बच्चा पढ़ाई में कमजोर है या उसमें कोई अन्य कमी है तो उसका कारण एकाएक तो हम नहीं जान सकते। हमारे सामने उसकी कमजोरी है। उसे सजा दे डालते हैं। बहुत बच्चे होते हैं विद्यालय में, बहुत पहलू होते हैं उनकी कठिनाइयों के। हर कमी, हर कठिनाई, को उनका अपराध मान बैठना भारी भूल है। 'ना' कहना तो एक मामूली बात है, मन की—साफ मन की—बात है।

अनदेखा कैसे करेंगे : शिक्षक और शिक्षा-प्रशासन का सम्बन्ध

(इस संस्मरण लेख में मुख्यतः एक छोटे स्कूल की कथा है। कठोर अनुशासन की अपेक्षाओं के बीच ऐसा कोमल, करुण और मानवीय पक्ष, जो शिक्षाविद् व सामान्यजन सभी के लिए चिन्तन-मनन योग्य हो सकता है। यह एक रोचक संवाद है शिक्षक व शिक्षा-प्रशासक के बीच। दोनों अपनी जगह सच्चे इनसान हैं, पूरे कर्तव्यनिष्ठ, किन्तु एक महाकष्टदायक स्थिति के बीच उन्हें गुजरना पड़ जाता है। दोनों पात्र लेखक के पर्याप्त परिचित थे। दो झाँकियाँ एक उच्चतम शिक्षाधिकारी व एक साधारण शिक्षक व प्रधानाचार्य के जीवन से भी जुड़ी हुई दी गई हैं इस संस्मरण में। दोनों का सम्बन्ध भावरूप में तीसरी से गहरा जुड़ा है। पाठक पढ़ें।)

शिक्षा का समुचित प्रबन्ध-प्रशासन न हो तो समय और जन-धन की बरबादी है। उसे रोकने का पूरी दृढ़ता के साथ उपाय होना चाहिए। दृढ़ता से आगे कठोरता है। कठोरता से आगे निष्ठुरता और निर्दयता का निवास होता है। इनके भेद को जानकर कब किस पर ध्यान दें यह तय करना भी एक कला है। भले-भले भूल कर जाते हैं। विद्यालयों की हालत इतनी खराब है कि लगता है सुदृढ़ प्रशासन चाहने वाला कोई कुशल व दृष्टिवान् अधिकारी खुद शैक्षिक अध्ययन, ज्ञान और गहरी सूझ-बूझ से सम्पन्न होकर कठोरता एवं विनम्रता का जब तक सजग सुबद्ध समन्वय स्थापित करके असूचित आकस्मिक निरीक्षणों का कोई मजबूत सिलसिला चलाने को तैयार न हो तब तक यह हालत सुधरने वाली नहीं है।

विद्यार्थी नकल करते हैं, शिक्षक ट्यूशनों में लगे रहते हैं, ख़ुद पढ़ते नहीं—कक्षा में पढ़ाते नहीं। ऊँची-ऊँची तनख्वाहें पाते हैं, किन्तु नकल और भ्रष्टाचार में लिप्त होते देर नहीं लगाते। प्रधानाचार्य भी पीछे नहीं रहते। यह तो सरासर अशिक्षा है, शिक्षा नहीं। स्कूलों में अव्यवस्था, अन्याय और भ्रष्टाचार देखते हैं तो बहुत दुःख होता है। ऐसे में उदारता और मानवीयता की बातें हर किसी को निहायत निकम्मी और नुकसानदेह लगेंगी। उनका सोचना भी सही है, किन्तु सच्ची शिक्षा

में बड़े-बड़े तूफानों के बीच भी स्नेह, सद्भावना और मानवीयता का एक संवेदन सुरक्षित रखना भी उतना ही जरूरी है।

छोटे स्कूल की छोटी बात है यह, पर बड़ी कोमल, शिक्षा-संसार के मर्म से जुड़ी एक छोटे शिक्षक की कथा। शिक्षा-प्रणाली के सुचारु संचालन के लिए शिक्षक का जिस तरह शिक्षार्थी से सुमधुर सम्बन्ध होना आवश्यक होता है वैसे ही शिक्षा-प्रशासन का भी शिक्षक से सुमधुर सम्बन्ध होना आवश्यक होता है। सुमधुर हो किन्तु कमजोर भी नहीं हो। 'कमजोर नहीं हो' इस भाव पर कभी-कभी इतना अधिक ध्यान दे दिया जाता है कि हम 'सुमधुर' का अस्तित्व ही भूल जाते हैं। अच्छे और भले लोग भूल जाते हैं। प्रशासनिक नियमों का अतिवादी उपयोग कर बैठते हैं।

संकट में पड़ते ही क्या कोई पराया हो जाता है? कल तक जो हमारा था, अपना था, वह कभी संकट में पड़े तो हमारा क्या कर्तव्य होगा? क्या हम उसे बीच धार में छोड़ देंगे?

यह प्रश्न तब पैदा होता है जब हमारे सहयोगी, सहायक या हमारे अधिकारी पर संकट आता है। मुझे इन मामलों के कई अनुभव हुए हैं। काल्पनिक कहें या यथार्थ, कोई फर्क नहीं पड़ता। सबके पीछे कोई-न-कोई वास्तविकता होती है। आप यही मानकर पढ़ सकते हैं कि मैं इन सबका चश्मदीद गवाह हूँ।

मान लो एक महा-महा-उच्च अधिकारी खफा हुए शिक्षा विभाग में उनके ही एक महा उच्च अधिकारी पर। आरोप लगा कर निलम्बन करने को उद्यत हुए, पर आरोप क्या लगाएँ? घटना तो मालूम थी किन्तु मज़बूत दस्तावेज़ी आधार चाहिए थे। उनके हाथ में कुछ फाइलें हैं। कुछ शिक्षाधिकारी, कोई छोटे, कोई बड़े और कोई बहुत बड़े, उनके सामने बैठे हैं। महा-महा-उच्च अधिकारी उनसे पूछते हैं कि कौन ढूँढ़ देगा दस्तावेज़ी आधार इन फाइलों से? मैं देख रहा हूँ, मेरा एक भोला सहयोगी आगे आता है।

सहयोग अच्छा है पर अन्याय का सहयोग क्यों करो? साफ निर्दोष था वह बन्धु, मन-ही-मन सभी जानते थे। हम सभी लोग उन महा-महा जी के चैंबर से बाहर निकल आते हैं। हम सब औचित्य पर शंका व्यक्त कर चुके थे।

परिणाम क्या होता है? वह अधिकारी निलंम्बित होता है। निलम्बन अवधि में ही सेवानिवृत्त हो जाता है। कोर्ट में जाता है। सेवानिवृत्ति के बाद बरसों तक कोर्ट-कचहरी के चक्कर लगते हैं। परेशान होता है, पर हिम्मत नहीं हारता। सरकार से मुकद्दमा जीत जाता है, हर्जाने की राशि लेता है। एक रुपया ले चाहे एक लाख ले, लेता है। अपना सारा देय भी पाता है।

देने वाले अधिकारी कोर्ट का आदेशपालन करने में टालमटोल या ढील-ढाल न करें इस को ध्यान में रखकर वह बैंड-बाजे के साथ अधिकारी के घर जा धमकता है। अधिकारी त्वरित गति से कार्रवाई करता है और उसे अपना तमाम देय प्राप्त होता है।

ध्यान रहे वह अधिकारी शिक्षक पद से शिक्षा विभाग के उच्चतम पद तक ज्ञान, अनुभव और कर्तव्य-निष्ठा से पहुँचा था। प्रदूषण कहीं और था, प्रभाव कोई और पर पतित हो रहा था। हम सभी जानते थे कि उक्त अधिकारी निर्दोष था किन्तु प्रशासन का प्रचण्ड प्रवाह जब किसी पर गिरता है तो बचाना आसान नहीं होता।

× × ×

दूसरा प्रकरण लो। काल्पनिक हो चाहे यथार्थ, ऐसा घटित हो जाए तो आप उसे कैसे देखेंगे, सोचें। मान लो आप एक विद्यालय में अध्यापक हैं। कभी कोई अध्यापक ट्रांसफर पर जाता है तो हर अध्यापक से चन्दा ले कर एक विदाई पार्टी कर देते हैं। चन्दा आता है, पार्टी होती है, और काम खत्म। हिसाब का कागज कौन रखता है? उसकी फिक्र कौन करता है? माना कि आप स्टाफ समिति के सचिव हैं, पर क्या आप हिसाब को लम्बे समय तक सम्हालकर रखने का कभी कष्ट उठाते हैं? लेकिन विधि-विधान एक दिन ऐसा बना कि आपका खुद का ट्रांसफर भी हुए वर्षों बीत चुके थे और आपके नए स्थान पर उस पुराने स्थान का प्रधानाचार्य पूछता पता ढूँढ़ता-ढूँढ़ता आता है और आपसे पूछता है कि आप उसके विद्यालय में स्टाफ-समिति के सचिव थे तब अमुक अध्यापक की विदाई पार्टी में कितना पैसा एकत्रित हुआ था और प्रधानाचार्य ने उसमें से क्या कोई राशि प्राप्त की थी? जरूर किसी ने उस प्रधानाचार्य पर कोई तोहमत लगाई है। यदि आपके पास हिसाब का कागज सुरक्षित है और आप वह कागज उसे सौंप कर आश्वस्त कर देते हैं तो आगन्तुक चैन की साँस लेकर लौटेगा, क्योंकि उस पर लगे आरोपों में एक आरोप यह भी है कि उसने अमुक पार्टी का पैसा खाया था।

आप यदि लापरवाह रहे, कागज खो दिया, या यह कहने को तैयार नहीं हुए कि प्रधानाचार्य निर्दोष है, तो निश्चित ही प्रधानाचार्य पर संकट मंडराएगा।

× × ×

तीसरी घटना। आप अध्यापक हैं। कुछ भूलें कीं। निलम्बित हो गए। कारण क्या? कारण यह कि आप निलम्बित यों हुए कि आप से पहले जो प्रधानाध्यापक थे वे जब निलम्बित हुए तब आपने उनके साथ सख्ती का निर्मम व्यवहार नहीं किया। तो आप क्या करेंगे?

काल्पनिक हो या वास्तविक, समझने के लिए उसे हम अक्षरशः आपके सामने रखते हैं। आप सोचिए कि संकट में पड़ते ही क्या कोई अपना था जो कल तक, वह पराया हो जाता है? ऐसे में हमारा क्या कर्तव्य होगा?

एक जिला शिक्षा अधिकारी मिले। वे पूरे निष्ठावान, जागरूक और मजबूत माने जाते थे। सुमधुर स्वभाव था। जिले भर में ख्याति थी। पर मजबूत रहने की कोशिश में एक घटना उनके साथ ऐसी घटित हो गई, जो आज तीस साल बाद भी जब-तब उन्हें सालती रहती है, महाकष्ट देती रहती है।

आकस्मिक निरीक्षण को एक बार निकले तो एक गाँव के मिडिल स्कूल गए। जो देखा वह उन्हें असंगत अनुचित लगा। स्कूल के प्रधानाध्यापक को डाँटा-फटकारा और निलम्बित कर दिया। उन्हें कह दिया गया था कि प्रधानाध्यापक पूर्णरूपेण प्रधान नहीं मात्र अध्यापक ही है, कार्यवाहक प्रधान का काम कर रहा है। जो हो, उन्होंने तो यही सोचा कि मजबूती आएगी। प्रशासन को मजबूत रखना है तो कठोरता लानी पड़ेगी। ईमानदारी से वे कठोरता का प्रदर्शन कर आए।

आरोप बनाए गए। आरोपों के उत्तर आए। जाँच हुई। प्रतिवेदन आया। व्यक्तिगत सुनवाई में प्रधानाध्यापक से शिक्षाधिकारी की लम्बी बात हुई। जो उत्तर लिखित में दिए थे, विनम्रता व संकोच के साथ, वे ही मन्द स्वर में सुनवाई के दौरान भी अध्यापक ने व्यक्त किए। थोड़े दिन की ऊहापोह के बाद जिला शिक्षा अधिकारीजी ने उन्हें इन आरोपों से मुक्त कर दिया।

आज उस घटना को तीस बरस से अधिक हो चुके हैं। जिला शिक्षा अधिकारीजी को रिटायर हुए भी पचीस साल हो चुके हैं। एक दिन मिले तो चाय-नाश्ते पर अतीत की अनेक बातें हुईं। संयोग से इस घटना की बात आई। उनके मन में जो उथल-पुथल मची थी अब तक उसका विस्तार से वर्णन सुनाते हुए उन्होंने सम्हाल कर रखे तब के कुछ कागज मुझे बताए। आइए, हम भी उन पर एक नज़र डालें और देखें कि वे क्या कहते हैं :

आरोप

आरोप सं. 1.—इस शाला का आकस्मिक निरीक्षण करने के समय ध्यान में आया कि बिना प्रार्थना-पत्र लिए अवकाश मनाने में आप अध्यापकों का सहयोग करते हैं।

आरोप सं. 2.—आपसे पूर्व के प्रधानाध्यापकजी श्री अमुक को निलम्बित किए जाने पर आपने उनसे रोकड़ का चार्ज तो लिया लेकिन रकम नहीं ली सो आप नियमों का उल्लंघन निरन्तर करते आ रहे हैं।

उत्तर

उत्तर सं. 1.—मैं इस आरोप को सविनय अस्वीकार करता हूँ। ऐसा रोज नहीं होता। कोई अकस्मात् गम्भीर रूप से बीमार पड़ जाए तब अर्जी से पहले रोगी के इलाज पर ध्यान जाता है। अमुक अध्यापकजी एकाएक बीमार पड़े, गम्भीर रूप से, और शहर जाने वाली एक बैलगाड़ी मिली तो पहला काम यही उचित लगा कि उन्हें शहर भेजा जाए। अर्जी लिखवाने की चिन्ता को वक्त नहीं था, परिस्थिति नहीं थी। हम विवश थे।

शिक्षकों से आत्मीयता रखने को विद्यालयी प्रबन्ध-प्रशासन में यह लोच रखी गई। इस उचित निर्णय पर कृपया मुझे दण्डित न करें। जिनसे सहयोग लेना है उन्हें सहयोग देना सामान्य व्यवहार का पहला अंग माना जाए तो कोई बुराई नहीं होती। मेरी राय में हर प्रबन्धक के स्वभाव व नीति का यह प्रमुख अंग होना चाहिए।

उत्तर सं. 2.—मैं इसे भी विनयपूर्वक अस्वीकार करता हूँ। कृपया पुनः विचार करें कि जिन परिस्थितियों में और जिन सज्जन से मैंने चार्ज लिया उनसे इतनी छोटी-सी रकम तत्काल दे देने का आग्रह न करना क्या सचमुच 'नियमों का निरन्तर उल्लंघन' हो गया?

आपको ज्ञात ही है कि इस विद्यालय में न कोई 'निरन्तर' निलम्बित हुआ है हमारे प्रधानाध्यापक पद से और न मुझे किसी ने 'निरन्तर' चार्ज देकर रकम 'निरन्तर' अपने पास रखी है।

मैं एक सामान्य अध्यापक हूँ। प्रशासन अनुभव से सर्वथा शून्य हूँ। मैंने यही विश्वास किया कि प्रधानाध्यापकजी (निलम्बित) अपना प्रशासनिक कर्तव्य जानते हैं। मेरा विश्वास सही था। आपके आकस्मिक निरीक्षण के बाद बिना देर किए वे आए और रकम दे गए। जो हो, वे मेरे अधिकारी हैं। उनके आगे मेरा कानून-कायदे पर ज्यादा जोर देना शोभाजनक नहीं हो सकता था।

कोई अध्यापक कभी दुर्भाग्य से निलम्बित हो जाए तो उसके प्रति हमारा सलूक एकाएक बदल नहीं जाना चाहिए। कोई संकट में पड़े तो पराया नहीं हो जाता है। विद्यालय हमारा परिवार है और प्रधानाध्यापक हमारा मुखिया है। परिवार के मुखिया के साथ मानवी सलूक रखना भी क्या कोई अपराध है? मैं तो भरत की तरह पादुका लेकर बैठा था, माया तो उन्हीं की थी, राज-पाट उन्हीं का था। बुरे दिन आते हैं तो भगवान राम को भी वनवास मिल जाया करता है। ऐसे वक्त में मुझ से कानून पर जोर देने की ज़िद करना सम्भव नहीं हो सका। कृपया क्षमा कर दीजिए, मुझे दण्डित मत कीजिए।

अन्त में फिर निवेदन है कि जो हुआ वह बुरी नीयत से नहीं, भली नीयत और भली निगाह से, भलमनसाहत के लिए, अच्छे विद्यालयी वातावरण के निर्माण के लिए हुआ है। कृपया इसे कानूनी ग़लती न मानें। मानना जरूरी ही हो तो कृपया माफ कर दें।

अनदेखा कैसे करेंगे

उत्तर में अध्यापकजी ने यहाँ अन्त में एक लाइन लिखकर काट दी थी। कटी होने पर भी वह साफ दिखाई दी जा रही थी। वह थी—

'परिस्थितियों को, व्यक्तियों को और विद्यालयी रिश्तों को हम अनदेखा कैसे कर सकते हैं?'

शायद अधिकारी की कोपदृष्टि के अन्देशे से यह लाइन काटी गई होगी। अधीनस्थों का सैद्धान्तिक स्वर उच्च पदस्थ अधिकारियों को प्रायः उपदेशात्मक लगकर अखर जाया करता है। इसी आशंका से अध्यापकजी ने शायद यह लाइन काट दी होगी।

पाठक भली-भाँति जानते हैं कि भले-भले लोगों को भी ऐसे दुर्दिन कभी-कभी देखने पड़ जाते हैं। शिक्षक को भी और शिक्षा-प्रबंधक या शिक्षा-प्रशासक को भी। विभाग के सर्वोच्च प्रशासक पर जो बीती उस का उदाहरण हमने इस आलेख के प्रारम्भ में ही देखा है।

शिक्षाधिकारी को दबदबा बनाने के लिए शायद यों तुरन्त निलम्बित करने की आदत थी, तभी तो इसी विद्यालय के पिछले प्रधानाध्यापक भी निलम्बित हो चुके थे और ये अध्यापकजी, जिन्होंने उनसे चार्ज लिया था ये भी, त्वरित निलम्बन की चपेट में आ चुके थे।

जिला शिक्षा अधिकारी काटी गई यह पंक्ति बता कर बोला कि मैं न इस कटी अन्तिम पंक्ति को अनदेखा कर सकता हूँ और न इस पूरे प्रकरण या स्पष्टीकरण को। मैं आज भी इस उत्तर को शिक्षा-प्रशासन के आन्तरिक सम्बन्धों की एक अच्छी प्रबुद्ध व्याख्या मानता हूँ।

उचित कहा उन्होंने। हम ऐसी भूल फिर कभी न करें इस दृष्टि से क्या यह घटना विचारणीय नहीं है?

जिला शिक्षा अधिकारी ने अध्यापकजी को अन्ततः आरोप-मुक्त किया। यह अच्छा किया।

शिक्षक-प्रशिक्षण में बदलाव का समय

हम थोड़ा भोले और रोमांटिक लोग हैं। सत्कर्म करने पर तत्काल उतारू हो जाते हैं। यह हमारे ध्यान से छूट जाता है कि हमारा जो प्रिय है, वह सार्वभौम और सर्वप्रिय या सर्वहितकारी नहीं भी हो सकता है। हमें वस्तुपरक तो होना ही चाहिए, वस्तुनिष्ठ न हो सकें तो न सही।

हमने शिक्षकों की शिक्षा करने का निर्णय किया, अच्छा किया। सत्कर्म था। शिक्षक अच्छा शिक्षक बने, बहुत अच्छी बात थी। वह शिक्षाविदों के बारे में जाने, महान् शिक्षकों व शिक्षाशास्त्रियों के शिक्षा-सिद्धान्तों को समझे और बाल-मनोविज्ञान या शिक्षा-मनोविज्ञान तथा शिक्षण-विधियों को भी गहराई से जाने, तो खुद भी एक नई दृष्टि प्राप्त कर लेगा, शिक्षण सम्बन्धी नई क्षमता और सामर्थ्य प्राप्त करेगा। ऐसा सोचना ग़लत बात नहीं थी। मेरी सलाह मानें तो हर शिक्षक को संगीत, साहित्य व कला के साथ-साथ जीवन भर उत्तम शिक्षा-साहित्य में भी ख़ूब रुचि रखनी चाहिए, जो प्रिय लगे वह पढ़ते-सीखते रहना चाहिए।

इसी चिन्तन का परिणाम हुआ कि शिक्षकों को भी उनकी नियुक्ति के बाद प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों में भेजे जाने की प्रथा पड़ी। अभी कुछ ही वर्षों पूर्व यह प्रशिक्षण कार्य सेवाकाल में ही सम्पन्न हुआ करता था। बारी आने पर वर्षों पढ़ा लेने के बाद एस.टी.सी. या बी.एड. में सेवा-समय के दौरान सरकारी व्यय पर भेजा जाता था। अब कुछ समय हुआ जब अचानक सेवापूर्व प्रशिक्षण प्रारम्भ हो गया है। निजी कॉलेजों का सैलाब उमड़ आया है। दो बी.एड. कॉलेज (एम.एड. भी) सरकारी थे, कुछ निजी थे, जिनमें से कुछ की अच्छी प्रतिष्ठा थी, साख थी। जो भी प्रशिक्षण होता था, शिक्षक की नियुक्ति के बाद सेवाकाल में ही होता था और सरकारी व्यय पर होता था।

यह सब नौकरी में पाँव रखते ही नहीं हो जाता था, नियुक्ति के बहुत समय बाद, जब बारी आती थी, तब होता था। बारी आने में वक़्त लगता था। कभी-कभी तो आधी उम्र बीत जाने तक बारी नहीं आती थी और कुछ लुके-छिपे वीर बहादुर ऐसे भी होंगे, जिनकी बारी पूरे सेवाकाल में कभी आई ही नहीं, लेकिन जिन्होंने जमकर पढ़ाया और बहुत अच्छा पढ़ाया। सरकार अपने तरीक़े से चलती

थी। बरसों बारी नहीं आती थी। न आए। शिक्षक की कर्तव्य-निष्ठा में कोई अन्तर नहीं आता था। सत्यनिष्ठा और गुणवत्ता का गुण उनकी नस-नस में कूट-कूटकर भरा हुआ था। संस्थाप्रधान भी कमर कसे रहते थे और शिक्षक भी तल्लीन होकर पूरे मनोयोग से पढ़ाया करते थे। संस्थाप्रधान याद रखकर कक्षाओं का नियमपूर्वक मुआयना अर्थात् परिवीक्षण करते थे। उपनिरीक्षक और निरीक्षक जब दौरे पर आते, तो वे भी कक्षा-शिक्षण देखते थे, सुझाव और सलाह देते थे और कुछ सुझाव वे अपने निरीक्षण प्रतिवेदनों में भी लिखते थे। शिक्षक के लिए निरीक्षक साक्षात् मूर्तिमन्त ख़ुदा होता था। मारवाड़ रियासत के निरीक्षक हाथीभाई और निदेशक ए.जी. कॉक्स का तो शायद फ़ोटो भी पाठ्यपुस्तकों में छपता था। निरीक्षक और निदेशक हर स्कूल का इतना ध्यान देकर मुआयना करते थे कि कई शिक्षकों को वे नाम से जानते थे। इतनी आत्मीयता होती थी उनके व्यवहार में कि शिक्षकों से घरेलू सम्बन्ध-सा क़ायम कर लिया करते थे।

अपने निजी जीवन की एक वास्तविक रोचक घटना सुनाता हूँ। मेरे पिताजी को निरीक्षकजी नाम से ही नहीं, उपनाम से भी जानते थे। पिताजी का नाम था भीकमचन्द। उपनाम था 'भीका'। बड़े-बुज़ुर्ग लाड़-प्यार से भीका कहा करते थे। निरीक्षकजी तो पदेन बुज़ुर्ग थे। रामचन्द्रजी कल्ला नाम था उनका। पूरी रियासत में उनका नाम था, अत्यन्त लोकप्रिय थे वे। मेरी पत्रकारिता में रुचि जागी। पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ते-पढ़ते ही सब परीक्षाएँ पास की थीं। पाठ्यपुस्तकें कम और पत्र-पत्रिकाएँ अधिक पढ़ा करता था। ऐसा शुरू कर दिया था कक्षा पाँच से, जिसकी नींव पड़ गई थी कक्षा दो में (शिक्षक पिता के प्रभाव से), गिजुभाई की 'शिक्षण पत्रिका' और 'विश्वमित्र' पढ़-पढ़कर। इसी कारण मैं हर पाँच साल बाद फ़ेल भी हुआ—पाँचवीं, दसवीं, पन्द्रहवीं (एम.ए. प्री., अंग्रेज़ी) में। मैं भी शिक्षक हुआ। राजस्थान के कई गाँवों-शहरों में पढ़ाया। जोधपुर और जयपुर में पोस्टिंग मिला, तो एक साप्ताहिक पत्र से जुड़ा। स्कूल के बाद दिन-रात प्रायः मेरी वहीं बैठक थी। सम्पादकजी के हर काम में हाथ बँटाता। सम्पादन, लेखन, प्रूफ़ रीडिंग, जब काम पड़ता तो ट्रेडल मशीन भी चलाई, मिसल उठाकर पते काट-काटकर मिलान कराया। इसी का फल है कि शैक्षिक पत्रकार बना (बिना पत्रकारिता का कोई प्रशिक्षण लिए), 'शिविरा' शुरू की और 'शिविरा पत्रिका' तथा 'नया शिक्षक' का सम्पादन लगातार 13 वर्षों तक पूर्णकालिक किया।

शिक्षक निरीक्षक सम्पादकजी के मित्र थे। आया करते। मुझे जानने लग गए। एक दिन उन्होंने मुझसे मेरे पिताजी का नाम पूछा। काम पूछा। मैंने बता दिया कि नाम भीकमचन्द जी है और वे भी शिक्षक हैं, मेरे गाँव में। कुछ समय बीत गया। एक दिन उनको याद आ गया—नाम उपनाम सब। बोले—'अरे, तू भीका रो बेटो है कई?' मैंने कहा, 'जी।' वे गद्गद होकर बोले, 'तो, यूँ कहो न! भीकमचन्द-

भीकमचन्द रोज़ सुनता हूँ, समझा ही नहीं कि यह कौन टीचर? मैं तो हर टीचर को जानता हूँ। तो तू भीके का बेटा है। शाबाश, आज पहचान गया।'

और यह पहचान जीवन भर रही। जब भी मिलते, भरपूर आत्मीयता से मुझे नाम लेकर पुकारते, पास बिठाते, चाय पिलाते-नाश्ता कराते।

तो यह जीवन्त रिश्ता क़ायम होता था निरीक्षक और शिक्षक के बीच। यह आत्मीयता की शक्ति कक्षा-शिक्षण में शिक्षक का सम्बल बन जाती थी और वह गहरी निष्ठा से तल्लीनतापूर्वक पढ़ाया करता था। उसी के पढ़ाए लोग शिक्षाधिकारी भी बने, डॉक्टर, इंजीनियर, जज, कलक्टर, शिक्षक, मन्त्री और मुख्यमन्त्री भी बने। देश-विदेश, ऊँचे-ऊँचे पदों पर वे आज भी काम कर रहे हैं, जिन्हें बिना प्रशिक्षण प्राप्त किए शिक्षकों ने पढ़ाया। शायद कई राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री भी हुए जिन्हें बिना प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों ने पढ़ाया। कॉलेजों में कब था प्रशिक्षण?—गिजुभाई, गाँधी और टैगौर ने कहाँ पाया था प्रशिक्षण? वे महान् शिक्षक कहलाए।

प्रशिक्षण लिया तो ठीक, न लिया तो ठीक। शिक्षक ने हमेशा निष्ठापूर्वक पढ़ाया है। प्रशिक्षण विद्यालय या महाविद्यालय गया, तो ज्ञान से समृद्ध होकर आया और उसका भी लाभ मिला। ज्ञान तो अनन्त है। जितना मौक़ा मिले, मिले। नया-नया ज्ञान प्राप्त करते रहने में कोई बुराई नहीं। लेकिन नौकरी देने से पहले यह जो प्रशिक्षण की शर्त हमने पिछले कुछ वर्षों से लगा रखी है, यह सत्यानाशी है। हमने भले के लिए सोचा था, किन्तु बुरा हो गया, भीषण बुरा हो गया। लालची व्यापारी-लुटेरों की निगाह पड़ गई, और धड़ाधड़ दुकानें खुल गईं। कभी समाज के भले के लिए खुलती थीं, अब हमारे सत्यानाश के लिए खुल गईं। घर-घर में दुकान है बी.एड. की। शिक्षाविदों ने आज्ञापालक नौकरी निभाई। लालची व्यापारियों की राजनीति को शैक्षिक ज़रूरत हमने बनाया, भोलेपन में या लालच में, और अकेले राजस्थान में क़रीब आठ सौ खोटे-खरे ऐसे कॉलेज खुलवा दिए जो शिक्षक बनने की उम्मीद रखने वाले विद्यार्थियों से लाखों रुपए लूट रहे हैं।

करेला और नीम चढ़ा। एक नई मुसीबत खड़ी कर दी शिक्षा संसार के ज्ञानी पण्डितों ने। कुछ न करो तो कुछ तो करो। कुछ कर दिया उन्होंने भी कि पी.टी.ई.टी. शुरू करवा दी। नौकरी मिलने से पहले जो प्रशिक्षण की शर्त पैदा हुई थी, अब उससे भी पहले एक और नई परेशानी से गुज़रने की शर्त लगा दी, बी.एड. की पूर्व परीक्षा पास करो तब प्रवेश मिलेगा बी.एड. में।

अब आप हिसाब कीजिए कि कितना-कितना व्यय-भार बढ़ा किस-किस पर। कितना बी.एड. पूर्व परीक्षा देने-दिलाने से और कितना बी.एड. कॉलेजों में पढ़ने-पढ़ाने से। तेल तो तिलों से निकलेगा। पिसेंगे वे ही जो शिक्षक बनने के प्रत्याशी होंगे। बी.एड. पूर्व परीक्षा के आयोजक भी उनसे फ़ीस लेते हैं और

कॉलेजों के प्रबंधक भी उनसे फ़ीस लेते हैं। बेशुमार व्यय होता है फ़ीसों पर भी और प्रशिक्षण समय तक वांछित स्थल पर जाकर रहने व खाने-पीने पर भी। कुछ किताब-कॉपी व शिक्षण सामग्री पर भी व्यय करना ही पड़ता है। तरह-तरह की पाठ योजनाओं के लिए सामग्री पर भी कॉलेज वाले बहुत व्यय कराते हैं। कुछ कॉलेज वाले ऐसे भी 'कृपालु' होते हैं, जो बिना अधिक व्यय कराए मात्र फ़ीस के पैसे लेकर कॉलेज में उपस्थित न होने की साफ़ छूट दे देते हैं। देश के दूर-दूर भागों तक ये दुकानें खुली हुई हैं। पैसे दो और सब प्रबन्ध पक्का हो जाता है।

शिक्षा-क्षेत्र में काम करने वाले सभी लोगों को इस समस्या पर अब शीघ्र विचार करना होगा। समस्या बहुत गम्भीर है। एक प्रकार से यह भावी शिक्षकों का निर्मम नरसंहार है। इनमें से आधे लोगों को तो बी.एड. में प्रवेश ही नहीं मिलेगा। और जिन्हें प्रवेश मिलेगा और पास करेंगे उनमें से भी आधे लोगों को नौकरी नहीं मिलेगी। क्या यह धन-जन की, आशा-आकांक्षा की, बरबादी नहीं है?

अभी कुछ वर्षों पहले तक मात्र दो सरकारी टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज थे, और आठ निजी कॉलेज थे। आज राजस्थान में 768 निजी बी.एड. कॉलेज और सरकारी कॉलेज वे दो के दो ही। वर्ष 2009-10 में इनमें 91,030 सीटें थीं और सब भरी थीं। इस वर्ष 77,051 सीटें भरी हैं। कितना भारी व्यय सरकार, प्रबन्धक व प्रशिक्षणार्थी करते हैं, इस पर आप विचार करें। फिर यह भी विचार करें कि इस समय, धन और ऊर्जा का व्यय करके हम पाते क्या हैं? जो पाते हैं उसकी ज़रूरत कितनी है? जो योग्यता शिक्षक ने स्कूल-कॉलेज की पढ़ाई के दौरान अर्जित की थी, वही आगे देनी है कि कुछ और भी देनी है? और तो छदाम भर भी नहीं देनी है, यह हम सभी जानते हैं।

यही जानने का समय आ गया है और यही हर आम और ख़ास को बताने का समय आ गया है। यह भी बताने का समय आ गया है कि किसी के विषय-ज्ञान में इस बीच कोई वृद्धि हुई है और राज्य या केन्द्र वह भी सिखाने में रुचि रखता है, तो सीखे हुए शिक्षक को थोड़ा और सीखने में भी वक़्त नहीं लगेगा, कठिनाई नहीं होगी। कोई नई विधियाँ अपनानी हैं, तो वह संस्थाप्रधान, उपनिरीक्षक, निरीक्षक (अब ज़िला शिक्षा अधिकारी) के सम्पर्क से—सलाह से सीख लेगा। वैसे सीखे हुए प्रशिक्षित जन भी कौन-सा उनका पालन करते हैं? कोर्स पूरा कराएँ कि शिक्षण-विधियों के नाना रूपों की चिन्ता करें? निष्ठा से वे तो कोर्स पूरा कराने में जुट जाते हैं। प्रश्नों और उत्तरों का अभ्यास कराते हैं। चार साल के प्रश्नपत्रों को हल करवाते हैं। निष्ठावान शिक्षक तो मज़बूती से ऐसा ही करते हैं। कहाँ काम आता है आपका प्रशिक्षण, जिसको हमने इतना ऊँचा उठा रखा है और जिसे एक भारी शिलाखण्ड की तरह भावी शिक्षकों पर हमने डाल रखा है?

एक अच्छे सिद्धान्त का यह एक महादुरुपयोग है। एक अच्छी बात महामारी बन गई। क्यों हुआ ऐसा? इसीलिए कि हमने अच्छा सोचा, अच्छा करने की ठानी और अपने हिसाब से ख़ूब अच्छी व्यवस्था बनाई। पहले तो यह व्यवस्था बनाई कि सेवाकाल में थोड़ा-थोड़ा नया ज्ञान देते रहें, कई-कई विधियों पर ग़ौर करना भी सिखाते रहें। फिर व्यवस्था बनाई कि शिक्षक को नियुक्त करने से पहले उसे नए ज्ञान और नई-नई शिक्षण-विधियों से सुसज्जित कर दिया जाए। शायद ठीक ही सोचा होगा। अन्य कुछ जगहों पर ऐसी ही व्यवस्था रही होगी, जो प्रशासक देख आए होंगे और मौक़ा आया तो, (अपनी बुद्धि से या लालची व्यवसायियों की बुद्धि-कुबुद्धि से) लागू कर बैठे होंगे। यहाँ भी ऊपर से देखने में तो यह सब ठीक-सा लगा, किन्तु देखते ही देखते यह नई व्यवस्था एक भीषण विभीषिका बन गई और दावानल की तरह शहर-शहर ही नहीं गाँव-गाँव तक फैल गई। आपने नक़्शे में जिनके नाम नहीं देखे होंगे, वहाँ-वहाँ बी.एड. कॉलेज हैं आज।

प्रशिक्षण बिना कोई भी शिक्षक सही शिक्षक नहीं हो सकता, इस मिथ्या धारणा को अब दूर करने का वक़्त आ गया है। एक अच्छे विचार का सत्यानाशी दुष्परिणाम हम देख चुके, बहुत देख चुके। अच्छे विचार का तो अच्छा परिणाम होना चाहिए था, दुष्परिणाम क्यों हुआ? क्योंकि हमने अति कर दी और यह नहीं देखा कि हमें नोच खाने को गिद्धों की जमात हमारे ठीक ऊपर मण्डरा रही है। प्रशासनिक अधिकारी हों या शिक्षाधिकारी या शिक्षाविद् ही क्यों न हों, भोले भण्डारी भी होते हैं कई, दब्बू भी होते हैं कई, जी-हुज़ूरिए-चतुर चालाक भी होते हैं कई, और लोभी-लालची भी होते हैं कुछ लोग। भोले हों, दब्बू हों, चतुर-चालाक हों या लालची देश का भला समझकर हर दिशा में, हर स्तर पर, हम लोगों ने भूलें कीं।

एन.सी.ई.आर.टी. आज भी शिक्षक प्रशिक्षण को क़दम-क़दम पर प्राथमिकता देती है, एन.सी.टी.ई. तो थी ही शिक्षक प्रशिक्षण कॉलेजों के काम पर और सरकारों को मौक़ा चाहिए था पैसा कमाने का या पिछवाड़े से पैसा कमाने का। सरकार में बैठे लोगों ने या शायद काउन्सिल के अधिकारियों ने भी मौक़े का फ़ायदा उठाया और जो आया उसे मान्यता दे दी, हाथ गरम करके या न करके वे जानें।

न गरम किए होंगे हाथ किसी ने भी, किन्तु इतने बड़े परिमाण में धड़ाधड़ कॉलेज खुलते हैं, तो शंका होनी स्वाभाविक है। सज्जनता और दयालुता और मानवी संवेदना ने ऐसा किया हो तो वह सही, किन्तु जो हुआ वह बुरा हुआ और समझ में आ रहा है कि ग़लत भी हुआ।

अब मैं आपको बताता हूँ कि ग़लत कैसे हुआ। हम कोई अच्छी पुस्तक पढ़ते हैं या कोई अच्छी फ़िल्म देखते हैं या किसी दवा का चमत्कारी प्रभाव अनुभव करते हैं, तो हमारा मन करता है कि जो मिले उससे कहें। जो दूर हैं उन्हें

पत्र लिखें या फ़ोन करके कहें। अति उत्साही लोग तो वह दवा या पुस्तक ख़ुद ख़रीदकर दे आते हैं। या कोई अच्छी फ़िल्म देखते हैं और वह उन्हें बहुत अच्छी लगती है, तो वे उसकी सीडी या डीवीडी ख़रीदकर फ़ौरन मित्रों को डाक से भेजने को व्यग्र हो जाते हैं।

तो, जो हुआ वह यों ग़लत हुआ कि मन की अच्छी इच्छा को हमने हर आम व ख़ास शिक्षक तक पहुँचा देने की आतुरता पाल ली। विचार ग़लत नहीं था, इच्छा ग़लत नहीं थी, ग़लत था हमारा तरीक़ा। यह विचार स्कूल-स्कूल और शिक्षक-शिक्षक तक पहुँचा देने का। शिक्षक ज्ञान-समृद्ध हो यह कौन नहीं चाहता? शिक्षक अपने विषय के बारे में और अधिक जाने, पिछला जो जाना हुआ है उसे ताज़ा करे, और शिक्षा-तत्त्व की भी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ नवीनतम ज्ञान प्राप्त करके, शिक्षण-विधियों से भी परिचित हो, यह हम सभी चाहते हैं। भूल होती है तो वहीं कि बी.एड. या एस.टी.सी. की पढ़ाई नियुक्ति से पहले कराने की हम ज़िद पाल लेते हैं।

यह ज़िद उचित नहीं है। जो प्रशिक्षित है, उसे प्रशिक्षित करने की आतुरता किस काम की? जब हम स्कूल-कॉलेज में पढ़ते हैं, तो क्या हम विषय-ज्ञान के साथ-साथ पढ़ाने का तरीक़ा भी अनायास और परोक्ष-प्रच्छन्न रूप से नहीं सीख रहे होते हैं? और भिन्न-भिन्न शिक्षकों से पढ़ते-पढ़ते, भिन्न-भिन्न तरीक़े भी नहीं जान जाते हैं? इतने भिन्न-भिन्न स्वभाव के शिक्षकों से हमारा सम्पर्क होता है कि घिस-घिसकर हम क्या से क्या हो गए होते हैं। यहीं हमारा अंशतः सैद्धान्तिक और पूर्णतः व्यावहारिक मनोविज्ञान-शिक्षण भी हो जाता है। आप इसे बाल-मनोविज्ञान कहें तो भी और शिक्षा-मनोविज्ञान कहें तो भी, वर्षों की अन्तःक्रिया के घर्षण से इस पक्ष का भी हमें कम क्रियात्मक प्रशिक्षण प्राप्त नहीं होता है। हम हर स्तर पर प्रशिक्षित हैं। शिक्षक का प्रशिक्षण ही तो यह है। एक साल नहीं, दस-बारह-पन्द्रह-सत्तरह वर्षों तक हम यह अभ्यास कर चुके होते हैं। पढ़ाने को अब हम तैयार हैं।

नए ज्ञान और नई विधियों की ताज़गी के लिए सेवारत संगोष्ठियाँ, सेमिनार, समर इन्स्टीट्यूट या विभिन्न शिविर हम चाहें जितने आयोजित करें, कोई बाधा नहीं। सेवापूर्व प्रशिक्षण की आतुरता अब हमें अविलम्ब त्याग देनी चाहिए। रीज़नल कॉलेज भी अच्छे और डाइटें भी अच्छीं। एस.सी.ई.आर.टी. और एन.सी.ई.आर.टी. सेवारत प्रशिक्षण हेतु जो उचित समझें करें, किन्तु सेवा से पहले भावी शिक्षकों की यह बेतुकी लूट बन्द हो।

अच्छी शैक्षिक पत्रिकाओं से भी शिक्षक का अनवरत सेवारत प्रशिक्षण होता है। सभी तरह की श्रेष्ठ पत्रिकाएँ जैसे हर पाठक के लिए उत्तम जीवन का साधन होती हैं, वैसे ही शैक्षिक पत्रिकाएँ हर शिक्षक के लिए उत्तम शिक्षण का सशक्त

प्रेरणा-स्रोत और सम्बल होती हैं। एन.सी.ई.आर.टी. की पत्रिकाएँ इस दृष्टि से आदर्श बन सकती हैं, लेकिन दुःख के साथ कहना पड़ता है कि वे अधम अवस्था को पहुँच चुकी हैं, भीषण दुर्दशा उनकी हो चुकी है। आज ग्राहक बनिए, तो वे आपको 'भारतीय आधुनिक शिक्षा' का ग्राहक बनाएँगे जनवरी, 2009 से दिसम्बर 2009 अंक से जुलाई 2010–जून 2011 तक का (अर्थात् एक वर्ष के शुल्क की क़ीमत पर तीन साल के दो अंक आपको दिए जाएँगे, वे भी 'छपेंगे तब' ऐसा वे रसीद में अंकित किया करते हैं), पत्रिका है त्रैमासिक। 'इण्डियन-एज्यूकेशन एब्स्ट्रेक्ट्स' के ग्राहक बनिए तो ग्राहक बनाएँगे जनवरी, 2009 अंक से दिसम्बर, 2009 तक का (और अंक मिलेंगे 'छपेंगे तब', ऐसा वे आज कहते हैं), पत्रिका छमाही है। और 'प्राइमरी शिक्षक' के ग्राहक बनिए तो ग्राहक बनाएँगे अक्टूबर 2008 अंक से सितम्बर, 2009 अंक तक का (और अंक मिलेंगे 'छपेंगे तब', ऐसा वे आज कहते हैं) पत्रिका त्रैमासिक है। यह हाल है शिक्षा की शीर्ष संस्था का। तीनों तथ्यों को लेखक सत्यापित कर चुका है।

छोटे-मोटे सेवारत प्रशिक्षण या अभिनव कार्यक्रमों में आकर्षण पैदा किया जाना चाहिए। पूरा वेतन शिक्षकों को मिलता रहे और प्रशिक्षण काल में स्टाइपेण्ड मिले, प्रेरक पुस्तकें निःशुल्क मिलें, सीडी-डीवीडी मिलें और बड़ी अवधि के अभिनवन शिविरों में या समर इन्स्टीट्यूटों में तो अच्छे सीडी-डीवीडी प्लेयर तक भी मिला करें निःशुल्क, उत्कृष्ट शैक्षिक पत्रिकाओं की ग्राहकता भी साल-दो साल या पाँच साल तक की मिले, तो वे प्रोत्साहित होंगे और सहर्ष प्रशिक्षण कार्यक्रमों का लाभ लेंगे। सेवारत छोटा-मोटा प्रशिक्षण भी एक अतिरिक्त योग्यता माना जाए। किसी वक़्त में शिक्षा विषय की ज्ञानवृद्धि में रुचि जगाने को राजस्थान में एम.एड. करने पर दो वेतन वृद्धियाँ देने का प्रावधान हुआ करता था। अब नई योजना बने, तो नए उत्प्रेरकों (इन्सेटिव्ज) का प्रावधान हो। सेन्ट्रल इन्स्टीट्यूट ऑव इंग्लिश हैदराबाद (अब सी.आई.ई.एफ.एल.) कभी प्रशिक्षणार्थी को उसके वेतन का 75 प्रतिशत स्टाइपेण्ड दिया करती थी और घर पर उसे पूरा वेतन भी मिलता था।

जो भी हो, पुरानी व्यवस्था को बदलकर नई व्यवस्था अब हमें शीघ्र ले आनी है और बी.एड. कॉलेजों की अनावश्यक सेवापूर्व अपेक्षा समाप्त कर सेवापूर्व की बजाए सेवारत छोटे-मोटे प्रशिक्षण सरकार के प्रबन्धन के व्यय पर करने की प्रथा प्रारम्भ कर देनी है। उत्तम शिक्षा सुदृढ़ करने का यह तरीक़ा ही सबसे श्रेष्ठ और सही तरीक़ा है।

क्या जरूरत है बी-एड. की

शिक्षकों के प्रशिक्षण की जरूरत को नकारा नहीं जा सकता किन्तु शिक्षक प्रशिक्षणों की वर्तमान दशा को देखते हुए उस पर गम्भीर पुनर्विचार की जरूरत है। शिक्षक बनाने के लिए दिए जाने वाले सेवापूर्व प्रशिक्षणों ने आज जिस तरह उद्योग का रूप ले लिया है उसे देखते हुए तो लगता है कि इन्हें बन्द कर सारा ध्यान सेवाकालीन शिक्षक प्रशिक्षणों पर केन्द्रित किया जाए तो शायद कुछ बेहतर परिणाम हासिल किए जा सकें।

अन्य पेशों से तुलना की भूल

मेरा ऐसा मानना है कि शिक्षक के पेशे की तुलना डॉक्टर और इंजीनियर के पेशों से करना और इनकी ही तरह सेवा से पहले गहन प्रशिक्षण पर जोर देना एक भारी भूल है। डॉक्टर या इंजीनियर के पेशों में मैट्रिक या सीनियर सेकण्डरी तक की पढ़ाई इन कामों के लिए मात्र एक आधार का काम करती है, जिस पर आगे की व्यावसायिक शिक्षा का भव्य प्रासाद खड़ा होता है। लेकिन शिक्षक के सन्दर्भ में ऐसा नहीं है। शिक्षक ने स्कूली शिक्षा के दौरान जो सीखा है वह आधार मात्र नहीं बल्कि उसके व्यवसाय का भव्य प्रासाद भी होता है। उसे अपने शिक्षण व्यवसाय में इसी का उपयोग करना होता है। जो पढ़ा है, वही तो उसे पढ़ाना है।

बच्चों को सिखाने के लिए जिन विधियों का उसे उपयोग करना है, स्वयं अपनी शिक्षा के दौरान वह उन विधियों को देख चुका होता है, अनुभव कर चुका होता है, भली-भाँति सीख चुका होता है। विषयों के शिक्षण की विधियों के उस स्वरूप को वह आत्मसात् कर चुका होता है। शिक्षण से सम्बन्धित तमाम बारीकियों को वह अनायास ही जान चुका होता है। फिर क्यों माना जाए कि शिक्षक बनने के लिए अलग से प्रशिक्षण की जरूरत है?

प्रशिक्षण का उद्योग

यह भी देखे जाने की जरूरत है कि भारत में शिक्षक प्रशिक्षणों की शुरुआत जिस मकसद को ध्यान में रखकर की गई, क्या वे आज भी उसी लक्ष्य को ध्यान

में रखकर संचालित किए जा रहे हैं? एक समय में मुफ्त में दिया जाने वाला शिक्षक प्रशिक्षण आज भारी उद्योग बन गया है। राजस्थान में अभी कुछ समय पहले तक मात्र दो सरकारी और आठ निजी शिक्षक प्रशिक्षण कॉलेज थे। आज निजी बी.एड. कॉलेजों की संख्या बढ़कर 768 हो गई है जबकि वही दो सरकारी कॉलेज हैं। इन 770 कॉलेजों में 77 हजार विद्यार्थी पढ़ते हैं।

ये कॉलेज अनियमितताओं व भ्रष्टाचार के गढ़ बन चुके हैं। विद्यार्थी, अभिभावक और शिक्षक सभी त्रस्त हैं। नीति नियन्ताओं के लिए शिकायतें आम बात हो गई हैं। संसद ने शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं के नियमन के लिए नेशनल काउंसिल फॉर टीचर एज्यूकेशन (एनसीटीई) का गठन किया। एनसीटीई के कानून दिखने में जितने सख्त हैं, लागू करने वालों ने उन्हें उतना ही हलका बना दिया। एनसीटीई के मानदण्डों की अनदेखी कर निजी कॉलेजों को मान्यता दी जाती रही है। किन्हीं कॉलेजों को यूनिवर्सिटी से सम्बद्धता के बिना मान्यता दे दी जाए तो उनकी डिग्री अवैध मानी जाती है। ऐसे कॉलेजों के परीक्षा परिणाम अटके रहते हैं और इसके साथ ही अटका रहता है वहाँ पढ़ने वाले छात्रों का भविष्य। इनके खिलाफ कार्रवाई करना चाहें तो कॉलेज वाले कोर्ट से स्टे ले आते हैं, एनसीटीई कार्रवाई कर नहीं पाती, जाँच के निर्णय भी समय पर नहीं आते।

किसी भी प्रशिक्षण कार्यक्रम का उद्देश्य होता है अच्छे अध्यापक बनाना। आयोजक मानते हैं कि छोटी कक्षाओं के लिए छोटा सेवापूर्व प्रशिक्षण (एसटीसी) और बड़ी कक्षाओं के लिए बड़ा सेवापूर्व प्रशिक्षण (बी.एड.) आवश्यक है। इस मान्यता का परिणाम क्या हुआ है? प्रतिवर्ष अस्सी हजार अध्यापक प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं और नियुक्ति नहीं मिलती आठ हजार को भी। वर्ष दर वर्ष हताशा की बेतहाशा वृद्धि होती है। कितना निरर्थक है यह आयोजन? धन, समय, आशा, विश्वास और ऊर्जा का इतना अपव्यय किसलिए, जबकि इतने शिक्षकों को नियुक्ति ही नहीं दी जा सकती?

शिक्षक का ज्ञान

आखिर एक शिक्षक प्रशिक्षण के दौरान क्या पढ़ता है? शिक्षा का इतिहास, शिक्षण विधियाँ, समस्याएँ और शिक्षा-सिद्धान्त व शिक्षा-मनोविज्ञान तथा शिक्षण प्रक्रिया आदि की कुछ बातें। इनमें थोड़ा शिक्षा-दर्शन का छिड़काव हो जाता है या शिक्षण-विज्ञान या शैक्षिक तकनीकी का मुलम्मा चढ़ा दिया जाता है। निश्चय ही इन्हें जानकर उसे लाभ होगा, लेकिन उतना नहीं जितना हमने सोच रखा है।

मेरी राय में प्राथमिक या माध्यमिक स्तर तक के प्रारम्भिक शिक्षण के लिए सेवापूर्व प्रशिक्षण की कोई आवश्यकता नहीं है। शिक्षकों का प्रशिक्षण उनके

सेवाकाल के दौरान जीवन भर होता रहे, यही श्रेयस्कर है, जिसका व्यय विद्यालय प्रबन्धन द्वारा वहन किया जाए। वरिष्ठ शिक्षक उनसे संवाद कर उन्हें आगे बढ़ने में मदद कर सकते हैं, उन्हें प्रेरणाप्रद शिक्षा-साहित्य, पुस्तकें और पत्रिकाएँ पढ़ने के लिए प्रेरित कर सकते हैं। स्वयं अपनी कक्षा में नए शिक्षकों को बुलाकर अपनी शिक्षण पद्धति देखने को आमन्त्रित कर सकते हैं।

पाठ योजनाओं का आल-जाल

वर्तमान में संचालित सेवापूर्व शिक्षक-प्रशिक्षण के दौरान अकसर ऐसा देखा जाता है कि प्राध्यापक विद्यार्थियों से पाठ-योजना बनवाने पर बहुत बल देते हैं और पाठ्यसामग्री पर भी खूब खर्च करवाते हैं। वे इन पाठ योजनाओं में संशोधन और मॉडल की साज-सज्जा पर बहुत ध्यान देते हैं। शिक्षण से पूर्व पाठ योजना को विषयवार विशेष रूप में लिखने की इतनी ज़िद क्यों की जाती है? पठन सामग्री का खर्चीला और रंग-बिरंगा आल-जाल फैलाने वाले को अधिक अंक क्यों दिए जाते हैं? इन बातों पर पुनर्विचार किए जाने की जरूरत है।

अध्यापन के लिए संसाधनों की नहीं शिक्षक की रचनाशीलता की जरूरत है। एक बार जयपुर में अंग्रेजी शिक्षकों की एक सेमिनार में एक कॉन्वेण्ट स्कूल की प्रिंसिपल कार में बहुत-सा रंग-बिरंगा सामान भर लाईं। उन्होंने खूब अच्छा पाठ पढ़ाने की प्रस्तुति दी। दूसरे दिन सेमिनार के एक सम्भागी ने बिना किसी विशेष सामग्री के पाठ-प्रदर्शन शिक्षण किया। वह खाली हाथ आया, किन्तु उसने ब्लैक बोर्ड पर चॉक से चित्र बनाकर, अपने जूतों से आवाजें पैदा करके, चुटकुले-दोहे सुनाकर, अंग्रेजी टंग-ट्विस्टरों का प्रयोग कर, जेब से पेन्सिल या रूमाल निकालकर उनके प्रयोग से तथा पाठ में आए प्रसंगों के अनुसार अभिनय करके, पाठ को इतना आकर्षक और रोचक बना दिया कि दर्शकों में दूने वेग से तालियाँ बजीं। वह कक्षा के ओर-छोर पर विद्युत् वेग से आता-जाता रहा और कभी इस कोने और कभी उस कोने से विद्यार्थियों को सीखने की प्रक्रिया में शरीक करता रहा। पाठ के अन्त में कॉन्वेण्ट स्कूल प्रिंसिपल ने उस शिक्षक की खूब प्रशंसा की और कहा कि यह भी पढ़ाने का मौलिक और प्रभावपूर्ण तरीका है और कम साधनों वाले विद्यालयों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

एक अन्य प्रशिक्षण कार्यक्रम में न्यूजीलैण्ड से आए एक शिक्षक-प्रशिक्षक[1] ने अपने व्याख्यान के दौरान कहा था, 'किसी कागज के टुकड़े पर तुम अपनी पाठ-योजना बनाकर मुझे दिखाओ चाहे न दिखाओ, मेरी सलाह लो चाहे न लो, मैं तुम्हें पढ़ाता देख लूँ इतना ही काफी है।' पढ़ाता देखकर कोई वरिष्ठ शिक्षक भी नवागन्तुक शिक्षक को मार्गदर्शन दे सकता है। सेवारत प्रशिक्षण का यह कार्य स्थानीय स्तर पर परस्पर सहयोग से सम्पन्न क्यों नहीं हो सकता? शिक्षक एक-दूसरे की कक्षाओं में जाकर शिक्षण कार्य देख सकते हैं। इस तरीके से स्थानीय स्तर पर भी लाभ हो सकता है और प्रशिक्षण विद्यालयों-महाविद्यालयों के विद्यार्थियों की परेशानी भी दूर हो सकती है।

प्रशिक्षण योजना और हकीकत

हमारे यहाँ प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों की योजना और हकीकत के बीच गहरी खाई है। इन पाठ्यक्रमों के लिए बहुत किताबें प्रस्तावित की जाती हैं लेकिन कॉलेज के पुस्तकालय में इनकी गिनी-चुनी प्रतियाँ होती हैं। बाजार में ये मिलती नहीं क्योंकि इनकी माँग नहीं होती। अकसर तो विद्यार्थी ही किताबें पढ़ना नहीं चाहते और अगर कुछ विद्यार्थी चाहते भी हैं और किताबें उपलब्ध भी हों तो उनके पास उन्हें खरीदने के लिए पैसे नहीं होते। सामान्यतः मेधावी विद्यार्थियों के नोट्स की शेष विद्यार्थी नकल कर लेते हैं या पासबुक पढ़-पढ़ कर पास हो जाते हैं। किताबें पढ़कर ज्ञान प्राप्त करने का मन हो तो बिना प्रशिक्षण में गए भी हम अपने शिक्षण प्रशिक्षण का अभ्यास स्वयं जीवन भर जारी रख सकते हैं।

यदि यह मान भी लें कि पूरे साल प्रशिक्षण की पूरी पुस्तकें सभी प्रशिक्षु विद्यार्थी पढ़ ही डालते हैं, पाठ-योजनाएँ भी सुघड़-सुन्दर कलात्मक रंग-बिरंगे रूपों में लिख ही लेते हैं, तो भी क्या हुआ? अच्छा अध्यापक बनने के लिए क्या इतने मात्र को पर्याप्त मानना उचित है?

प्रशिक्षण संस्थाओं का विस्फोट

एक समय था जब मिडिल, मैट्रिक, बी.ए., एम.ए. तक पढ़े-लिखे व्यक्ति को अध्यापक की नौकरी मिल जाती थी। जब कभी बारी आती तब किसी को एस.टी.सी. तो किसी को बी.एड. का प्रशिक्षण दिला दिया जाता था। जिसकी जैसी शैक्षणिक योग्यता होती उसको उसी के अनुरूप सरकार के व्यय पर प्रशिक्षण दिया जाता।

समय के साथ पाठ्यक्रम बदला, पाठ्यपुस्तकें बदलीं, थोड़ा अन्तर आया। फिर प्रशिक्षण संस्थाओं की संख्या में ऐसा विस्फोट आया कि सैकड़ों नए निजी विद्यालय-महाविद्यालय खड़े हो गए। आज हजारों प्रशिक्षित शिक्षक बेरोजगार घूम रहे हैं। प्रशिक्षण महाविद्यालयों में हजारों सीटें खाली हैं, किन्तु नए प्रशिक्षणार्थी को प्रवेश देने का समय नहीं बचा है।

नियुक्ति-पूर्व प्रशिक्षण की नई प्रणाली को अपनाने की यह भूल हुई अध्यापक के पेशे की डॉक्टर, इंजीनियर आदि के कार्य से तुलना करने के कारण।

जब शरीर विज्ञान के लिए इतना लम्बा समय देना जरूरी है तो मनुष्य निर्माण के विज्ञान में लम्बा समय क्यों न हो? ज्ञान-विज्ञान के शिक्षण के लिए भी कुछ तैयारी कराओ। बस रीजनल कॉलेज ऑव एज्यूकेशन खोल दिए गए। एनसीईआरटी जैसी भीमकाय संस्था का निर्माण कर दिया गया। सोचा, शिक्षा तत्त्व के गहरे अधुनातन ज्ञान का प्रकाश फैलेगा। प्रकाश फैला, पर थोड़ा। अच्छा शिक्षक बना, पर कोई-कोई ही।

वास्तविकता यह है कि अच्छा शिक्षक बनाना है तो सेवापूर्व प्रशिक्षण की प्रणाली हमें तत्काल बन्द कर देनी होगी। प्रशिक्षण के नाम से चलने वाली अर्थोपार्जन की दुकानों को भी बन्द कर देना होगा। सरकारी प्रशिक्षण विद्यालयों, महाविद्यालयों, डाइटों तथा सही स्तर पर चलने वाले प्रतिष्ठित ग़ैर-सरकारी प्रशिक्षण महाविद्यालयों को यह काम सौंपना होगा कि वे सेवारत शिक्षक प्रशिक्षण का दायित्व वहन करें। वहाँ शिक्षा सम्बन्धी गहन स्वाध्याय होगा, प्रयोग होंगे, अभ्यास होगा; फिर उनके अनुभव संवाद-सूचना-चर्चा द्वारा, अल्पकालीन सेवारत प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों द्वारा, रिफ्रेशर कोर्सेज द्वारा, शैक्षिक शोधों के प्रतिवेदनों द्वारा तथा मासिक-त्रैमासिक पत्रिकाओं के माध्यम से ज्यादा-से-ज्यादा लोगों तक पहुँचाए जाएँगे। अधिक-से-अधिक अध्यापकों तक नया ज्ञान पहुँचाने के लिए सेमिनार-संगोष्ठियाँ आयोजित करें। बारां की डाइट 'पहल' नाम की त्रैमासिक पत्रिका के जरीए इस दिशा में संवाद-सूचना और चर्चा का अच्छा काम कर रही है। डाइटों को परीक्षा-बोर्डों की भूमिका में डाल देना भारी भूल थी, जिसे शिक्षा का अधिकार कानून ने खत्म कर दिया है।

कैसे बने अच्छा शिक्षक

हमें यह भ्रम छोड़ देना चाहिए कि प्रशिक्षण डिग्रियाँ, डिप्लोमा या प्रमाण-पत्र अच्छे शिक्षक तैयार कर सकते हैं। कोई भी व्यक्ति अच्छा शिक्षक तभी बन सकता है जब वह जाग्रत् हो और प्रयत्नशील रहे। तभी वह अपने व्यवसाय और विषय-शिक्षण के सामर्थ्य को समृद्ध बनाने वाली सूचना-सामग्री की तलाश में लगा रह सकता है। एक अच्छे शिक्षक को पूर्व में निर्मित ज्ञान की तलाश और उसके अध्ययन के साथ ही साथ अपने अनुभव, विचार व नवाचार को अभिव्यक्त करना भी सीखना होता है। विद्यालय में किए जाने वाले काम को लिखकर दूसरों को बताना भी सीखने की जरूरत है। इस तरह न सिर्फ व्यक्ति का अपना ज्ञान समृद्ध होता है बल्कि अन्यों को भी उससे सीखने में मदद मिलती है।

एक अच्छे शिक्षक के लिए खुद से यह पूछना भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि विद्यालय के इतने शिक्षकों और शिक्षार्थियों के बीच रहकर तथा विविध

कक्षाओं में शिक्षण करके स्वयं उसने क्या सीखा? अपने कार्य और अनुभव से जो सीखा है उसे दर्ज करें और दूसरों को पढ़ने के लिए भी दें। ऐसे ही ज्ञानसृष्टि होती है। ज्ञान का अर्जन मूक बने रहकर या दूसरों की बातों को ग्रहण मात्र करने से ही नहीं होता, अन्तःक्रिया और प्रतिक्रिया भी ज्ञान निर्माण के लिए उतनी ही आवश्यक हैं।

एक अध्यापक तभी अध्यापक बनेगा जब वह इन सभी क्षेत्रों में रुचि लेगा, निपुणता प्राप्त करेगा। गुजरात के गिजुभाई बधेका एक बैरिस्टर थे, कोई बी.एड. या एम.एड. नहीं थे, लेकिन उन्होंने बाल-जगत् की सेवा सर्वोपरि समझी और शिक्षा पर उन्होंने जितने ग्रन्थ पढ़े, विद्यालयों को बालमन्दिर बनाकर शिक्षण विधियों के जितने प्रयोग किए और बालक-बालिकाओं के हित की दृष्टि से बालकथाओं के अलावा शिक्षकों व माता-पिताओं के लिए जितने ग्रन्थ लिखे वह एक अद्भुत अपूर्व कीर्तिमान है। वह सब शिक्षा के इतिहास का एक अविस्मरणीय अध्याय ही माना जाएगा। शिक्षा के क्षेत्र में जीवन भर गिजुभाई ने इतना गहरा काम किया कि देश के एक महान् शिक्षक बन गए, 'मूँछों वाली माँ' कहलाए।[2]

कॉलेजों के व्याख्याता सेवापूर्व प्रशिक्षण प्राप्त नहीं करते। टैगोर ने शिक्षा का इतना बड़ा संस्थान विकसित किया और गांधी ने देश को सत्य, प्रेम, अहिंसा का अनमोल शिक्षा-सूत्र दिया। टैगोर और गांधी ने अपना-अपना शिक्षा दर्शन प्रस्तुत किया। महर्षि अरविन्द और जे. कृष्णमूर्ति को मौलिक शिक्षण पद्धतियों का जनक माना जाता है और उन पद्धतियों का विश्व भर में अध्ययन किया जाता है। ओशो ने भी 'शिक्षा में क्रान्ति' पर खूब बोला है और उनके भाषण इसी नाम के (शिक्षा में क्रान्ति) दो ग्रन्थों में संगृहीत हैं।

व्यक्ति के पेशेवर विकास का एकमात्र रास्ता प्रशिक्षण ही नहीं है। ऐसे बहुत से उदाहरण मिल जाएँगे जहाँ व्यक्ति को पेशेवर पाठ्यक्रमों के प्रवेश के भी अयोग्य ठहरा दिया गया और उन व्यक्तियों ने उसी क्षेत्र में सफलता के कीर्तिमान स्थापित किए। शिक्षक के पेशे के लिए भी प्रशिक्षण से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है अध्यापन के अवसर और स्वाध्याय को प्रोत्साहन। इसके साथ ही प्राथमिक-माध्यमिक शिक्षकों को सेवा के दौरान वरिष्ठ शिक्षकों के समूह की देख-रेख में सीखने और अपने अध्यापन को बेहतर बनाने के लिए मार्गदर्शन और प्रोत्साहन दिया जा सकता है।

अध्यापक को यदि बेहतर बनाना है तो न सिर्फ उससे सेवापूर्व प्रशिक्षण की शर्त उठा देनी होगी बल्कि सेवाकालीन प्रशिक्षणों में भी डिग्री के महत्त्व को कम कर संगोष्ठियों-सेमिनारों के अवसर उपलब्ध कराने होंगे। तभी वे अपने अर्जित ज्ञान और अनुभव को साझा कर नए ज्ञान का निर्माण कर सकेंगे। इन अवसरों पर ऐसे सन्दर्भ व्यक्तियों को आमन्त्रित किया जा सकता है जो उनकी इस तरह

की रुचियों को विकसित करने में मदद कर सकें। इस तरह सेवा काल के दौरान शिक्षकों का समय-समय पर अल्पकालिक प्रशिक्षण बहुत लाभकारी हो सकता है।

अपने विषय और शिक्षा की आधारभूत समझ के विकास के लिए अध्यापक का सतत स्वयं प्रशिक्षण होना अत्यन्त आवश्यक है। अध्यापन महज तकनीक नहीं है यह विज्ञान और कला दोनों एक साथ है।

बेहतर शिक्षक तैयार करने का यही तरीका हो सकता है कि शिक्षक स्वयं अपनी प्रेरणा से सीखें। शिक्षा के क्षेत्र में नवाचार करें और प्रबन्धक-प्रशासक इसमें उसकी सहायता करते रहें। इसके लिए कुछ नई तरह की व्यवस्थाओं को व्यवहार में लाना होगा। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान व प्रशिक्षण परिषद् (एनसीईआरटी) यह काम बखूबी कर सकती है, लेकिन उसकी अनेक मजबूरियाँ हैं। एक तो उसमें स्वयं चिन्तन व पहल की कमी है और दूसरे केन्द्रीय सरकार के दबाव-प्रभाव से उसका मुक्त हो पाना बहुत मुश्किल है। इसके बिना आलोचनात्मक चिन्तन सम्भव नहीं।

परिषद् के पूर्व निदेशक प्रो. कृष्णकुमार ने एक साक्षात्कार में मीरा श्रीनिवासन को कहा है[3] कि शिक्षा के अधिकार कानून को लागू करने में प्राथमिकता यही होगी कि अध्यापकों का प्रशिक्षण हो और पाठ्यक्रमों तथा पाठ्यपुस्तकों में आए बदलाव को ध्यान में रखकर हो। ऐसा हो जो अध्यापकों को विचारशील बनाए तथा उनमें आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र (क्रिटिकल पेडागॉजी) की समझ पैदा करे। उन्होंने बताया कि एनसीईआरटी अब बी.एड. की पाठ्यपुस्तकों पर काम कर रही है। इस काम का भी विस्तार होना चाहिए। हमारा प्रस्ताव है कि ये पाठ्यपुस्तकें ऐसी हों कि विद्यार्थियों को पासबुकों की जरूरत न पड़े।

इसके साथ ही यह भी जरूरी है कि गाँधी-गिजुभाई जैसे महान् शिक्षकों को याद रखें, सुखोम्लीन्स्की या मोंटेसरी की तरह 'बाल हृदय की गहराइयों' को अपने शिक्षण की ऊँचाइयों में सर्वोच्च स्थान दें, अर्थात् मानवीय संवेदना को सबसे ऊँचा रखें। यही हमारा शिक्षण है और यही हमारा प्रशिक्षण है।

संदर्भ

1. प्रो. एच.वी. जॉर्ज, निदेशक, अंग्रेजी शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान, वेलिंगटन (न्यूजीलैण्ड)।
2. देखें मोंटेसरी बाल शिक्षण समिति, राजलदेसर 331802 द्वारा प्रकाशित 'गिजुभाई ग्रन्थमाला' की सभी पुस्तकें।
3. 'द हिन्दू', दैनिक, 4 मार्च, 2010, दिल्ली संस्करण।

कुंजियों और पासबुकों में बुराई क्या है

हे शर्मीले शिक्षको! शिक्षक-दिवस पर पुण्य का एक काम करो। एक दम्भ जो तुमने वर्षों से पाल रखा है वह छोड़ो।

तुम इतना शरमाते क्यों हो? एक ही राग बार-बार क्यों अलापते हो कि बच्चे कुंजियाँ और पासबुकें न पढ़ें?

हकीकत तो यह है कि तुम खुद घर पर कुंजियाँ और पासबुकें पढ़-पढ़ कर ही पाठ पढ़ाने की तैयारी करके आते हो। लेकिन स्कूल आ कर बच्चों से कहते हो कि वे कुंजियाँ न पढ़ें, पासबुकें न पढ़ें। ऐसा मत करो। मेरी बात सुनो और यह शर्म छोड़ो। यह दम्भ भी त्यागो कि तुम कुंजी-विरोधी हो। तुम समझते हो कि ऐसा करना बड़ी शोभा की बात है।

मेरी मानो तो बाजार की सभी कुंजियों-पासबुकों पर नज़र रखो। यदि किसी में छपाई त्रुटिपूर्ण हो या उत्तर ग़लत दिए हों तो वह बात बच्चों को बताओ।

तरीका बदलो। समाज में आदर पाने का यह भी एक तरीका था कि अकड़ कर चलो, रोब रखो, बेंत फटकारो, बात-बात में डाँट लगाते रहो। वह जमाना गया। नहीं गया तो उसे विदा करो।

मैं यह व्यंग्य में नहीं कह रहा हूँ। सचमुच पूरी गम्भीरता से कह रहा हूँ कि भले तुम इसे नवाचार समझो, सनक समझो, लेकिन वास्तविकता यह है कि अब तक हम व्यर्थ भयभीत हुए। औरों की देखा-देखी कहते रहे—कुंजियाँ बुरी हैं, कुंजियों के हाथ मत लगाओ। अब समय आ गया है—और नहीं आया है तो लाएँ हम वह नया समय—जब हम निर्भीक हो कर कहें कि कुंजियों में कोई बुराई नहीं। जो मर्जी आए वह कुंजी लो।

एक और बात ध्यान देने की है। सारी कक्षा के विद्यार्थी एक ही प्रकार की कुंजी नहीं लें। भिन्न-भिन्न प्रकार की कुंजियाँ हों तो पाठ को समझने में अधिक मदद मिलेगी। दो-तीन छात्र मिल-बैठकर भिन्न-भिन्न उत्तरों की सहायता से, थोड़ा-थोड़ा सब से लेकर, अपना एक अच्छा उत्तर तैयार कर सकते हैं।

कुछ शिक्षक अपने छात्रों से कहा करते हैं कि कुंजी देखो, पढ़ो, पर कापी में कुंजी का उत्तर नकल करके मत लाओ। वे ठीक कहते हैं। पढ़ लो कुंजी का उत्तर, या भिन्न-भिन्न कुंजियों का उत्तर, लेकिन खुद अपना उत्तर आप बनाने की कोशिश करो। यह भी एक छोटी-सी सृजनात्मक या रचनात्मक क्रिया है। यह करेगा बच्चा तो सोचेगा। सोचेगा, तो अपना उत्तर बनाने का अभ्यास होगा। कुंजी सहारा बनेगी। सोच कर खुद का उत्तर बनाने से अभ्यास बढ़ेगा। सिवाय गणित के हर विषय में यह अभ्यास काम आएगा। गणित में तो जो विधि होती है वही समझनी होती है। वहाँ तो कुंजी की नकल ही काम करेगी। और उसमें कोई बुराई नहीं।

अन्य विषयों में यों सोच कर लिखने से एक लाभ तो मौलिकता का होगा, जो लिखा जाएगा वह बच्चों का अपना होगा। दूसरा लाभ यह होगा कि कुंजी में जो कठिन होगा वह सरल हो जाएगा और जो लम्बा होगा वह छोटा हो जाएगा। सरल कर सकना भी एक गुण है, कौशल है, और छोटा करना अर्थात् संक्षिप्तीकरण भी गुण है, कौशल है—इन दोनों कौशलों का अभ्यास लाभकारी है, उपलब्धि है।

गीता-रामायण हम लाते हैं तो अर्थ सहित लाते हैं। कालिदास या शेक्सपियर को पढ़ते हैं तो अर्थ व टिप्पणियों बिना नहीं पढ़ते। अधिक रसास्वादन के आकांक्षी हुए तो उत्कृष्ट आलोचनाओं का भी सहारा लेते हैं। और बच्चा जब किसी मार्गदर्शिका सहायक पुस्तक (कुंजी या पासबुक) का सहारा ले तो नाक-भौं सिकोड़ते हैं। यह किस शिक्षाशास्त्र की संस्कृति है?

कुंजी मार्गदर्शिका है, दीपिका है, सचमुच की 'पासबुक' है। किसी भी स्तर पर उसको काम में लेने से किसी को मना मत करो।

कई शिक्षक और शैक्षिक लेखक इस बात में गर्व करते हैं कि किसी विद्यार्थी को कुंजी या पासबुक काम में मत लेने दो। इसमें वे अपना स्तर ऊँचा उठा हुआ महसूस करते हैं। अपना मान-सम्मान इसी में वे मानते हैं कि वे सदैव दुनिया को यही बताते रहें कि वे अपनी कक्षा में कुंजियों या पासबुकों की शक्ल भी देखना पसन्द नहीं करते। पत्र-पत्रिकाओं में भी जब देखो तब कोई-न-कोई ऐसा लेख मिल जाता है जो इनकी निन्दा से भरा होता है। लेकिन हम यदि थोड़ा गहराई से सोचें तो हमें सहज ही यह ज्ञात होगा कि यह हमारी भूल है। भ्रमजाल है। आइए, इस भ्रान्ति को दूर करने का प्रयास करें।

शिक्षक सिखाता है। कैसे सिखाता है? समझाता है। जो पाठ कठिन है उसे सरल करता है। विद्यार्थी की सहायता करता है उसे सरलतापूर्वक समझने में। शिक्षक का दूसरा नाम व्याख्याता है। व्याख्याता शब्द क्यों आया? क्योंकि वह

पाठ की व्याख्या करता है। अर्थ खोल कर बताता है। पाठ के मर्म के भीतर तक विद्यार्थी को पहुँचाता है।

वह इसके लिए कई तरीके अपनाता है। हम उसे विधियाँ और प्रविधियाँ कहते हैं। पाठ का सार बताना भी एक विधि है। कठिन शब्दों का अर्थ बताना तथा कठिन स्थलों—मुहावरों, वाक्यांशों या वाक्यों—को सरल करके समझाना भी एक विधि है। तुलनाएँ करता है, दृष्टान्त देता है, अन्तर्कथाएँ बताता है। कभी-कभी नाटकीय मुद्राओं द्वारा भी रोचकता उत्पन्न करता हुआ पाठ के प्रभाव का सम्प्रेषण कर देता है। उसके शिक्षण कार्य या व्याख्यानों का प्रभाव यही होता है कि छात्र-छात्राएँ पाठ को भली प्रकार समझ जाते हैं। कोई किधर से भी प्रश्न पूछे वे उत्तर देने में सक्षम बन जाते हैं। छोटा प्रश्न हो चाहे जटिल प्रश्न, शिक्षक की शिक्षण क्रिया के प्रभाव से वे इस योग्य हो जाते हैं कि हर प्रश्न का सहज भाव से उत्तर दे सकें।

अब शिक्षक कहता है : घर पर याद करके आना, कल हम फिर पूछेंगे। वह घर जाकर विद्यालय में पढ़े हुए को फिर पढ़ता है और जो-जो स्थल समझाए गए थे उन्हें स्मृति में से खोद-खोद कर दोहराता है। स्मृति में कोई अर्थ सुरक्षित होता है, कोई नहीं भी होता है। कोई कितना ही अच्छा पढ़ाए, सब ज्यों-का-त्यों थोड़े ही याद रहता है। तब उसे जरूरत पड़ती है कुंजी की। वही तब उसका मार्गदर्शन करती है। इसीलिए उसका दूसरा नाम है—मार्गदर्शिका। पहले कभी दीपिका भी कहते थे क्योंकि वह दीप बनकर उनका मार्ग रोशन करती थी।

आजकल अंग्रेजी व्यवहार के आधिक्य के प्रभाव से दो शब्दों को मिला कर एक नया शब्द बना है 'पासबुक'—वह बुक या किताब जो पास कराए। अच्छा शब्द बना है। परेशान बच्चों को प्रसन्न करने वाला है यह शब्द 'पासबुक'। पास हो जाने की आशा जगाता है, हिम्मत बँधाता है। बड़ी कल्पनाशीलता की उपज है यह शब्द। पासबुक पास न हो तो घर पर बच्चे की सहायता कौन करेगा? जिस बच्चे के पास अच्छी पासबुक हो उसे प्राइवेट ट्यूशन की जरूरत नहीं पड़ती है। वह कोचिंग क्लास नहीं जाता है। पाठ्यपुस्तक से भी अधिक पृष्ठों की और अधिक कीमत की होती हैं ये। अधिक पृष्ठों की भले हो, सस्ती होनी चाहिए यह कामना हम करते हैं, लेकिन प्रकाशक को तो मौके का लाभ उठाना है। वह ऊँची कीमत रखता है और पैसा कमाता है। सरकार को और समाज को चिन्ता है विद्यार्थियों की सहायता करने की तो पाठ्यपुस्तकें निःशुल्क देने की जहाँ योजना बनती है वहाँ अच्छी कुंजियाँ और पासबुकें निःशुल्क देने की भी योजना बन सकती है, बननी चाहिए।

ताजा उदाहरण ले लो। एनसीईआरटी आज भी 'सोर्सबुक्स' बनाती हैं विविध विषयों के आकलन की। उनमें शिक्षकों को उदाहरण देकर समझाया जाता है कि

किस विषय में उन्हें कैसे क्या आकलन करना है। किस विषय के किन-किन अंगों का कैसे आकलन करना है।

मैं तो समझता हूँ कि कोचिंग कक्षाओं की बजाए, या कोई कैसी भी प्राइवेट ट्यूशन करने की बजाए, कक्षा में शिक्षक को ध्यान से सुनना, समझना और पूछना, तथा घर पर आ कर कुंजी, पासबुक या रिफ्रेशर कोर्स की किताब के माध्यम से दोहराना, पक्का करना, अधिक अच्छा है।

जो लोग कुंजियों को नापसन्द करते हैं उनसे मैं पूछना चाहता हूँ कि 'नोट्स' क्या होते हैं जो व्याख्याता कॉलेज में लिखाते हैं या लिखा हुआ बाँटते हैं? एनोटेशन और नोट्स—कमेंट्स बिना क्या उन्होंने ऑथेलो, टेम्पेस्ट या मर्चेंट ऑव वेनिस आदि शेक्सपियर के नाटक कभी पढ़े हैं? गीता की भाषाटीका क्या है? कुंजी या और कुछ? रामायण भी अर्थ वाली लाते हैं कि नहीं?

परीक्षाओं में प्रश्नों का जो रूप होता है उसके अनुसार विधिपूर्वक ये सहायक पुस्तकें तैयार की जाती हैं, जिन्हें हम कुंजियाँ और पासबुकें कहते हैं, जो पाठ्यपुस्तकों की पूरक पुस्तकों का काम करती हैं। क्या बुराई है इनमें, सोचिए ज़रा आप?

त्रुटि-सुधार का नया शास्त्र

कापियों में हम काम कराते हैं। स्कूल में भी कराते हैं और घर से करके लाने को भी काम देते हैं। उत्तर देते हैं या लिखते हैं तब बच्चे त्रुटियाँ करते हैं। कोई कम, कोई ज्यादा। हम उनमें सुधार करते हैं। बच्चे आगे बढ़ते हैं। यों शिक्षा होती है।

यह एक साधारण-सी बात है। सभी जानते हैं। माँ-बाप भी जानते हैं और शिक्षक भी जानते हैं। बच्चा ग़लती करेगा, हम सुधारेंगे और शिक्षा होगी। यह एक सनातन शिक्षा-सूत्र है। बहुत सरल सीधा रास्ता है। प्रायः सभी इसी मार्ग पर चलते हैं। लेकिन हमने अनुभव किया है कि यह मार्ग काँटों से भरा हुआ है। बहुत दुःखदायी है। सरल मार्ग यह नहीं है, वह अभी और आगे है। जो माँ-बाप बच्चों को लेकर सचमुच गम्भीरता से पढ़ाने बैठते हैं या जो शिक्षक कक्षा में बच्चों के लिखित और मौखिक अभ्यास पर बल देते हैं वे जानते हैं कि त्रुटियों को सुधारने का काम आसान नहीं है। हर माता-पिता या शिक्षक के अलग-अलग अनुभव होते हैं। सुधार के अलग-अलग तरीके होते हैं।

आप याद कीजिए, आपका क्या तरीका है? क्या आप हर ग़लती पर बच्चे को टोकते हैं या लाल पेन से गोला लगाते हैं? कोई वक्त था जब कापियाँ जाँचने के लिए छोटी-बड़ी स्कूलों में एक-एक ऐसी पेन्सिल हर शिक्षक को दी जाती थी जो एक तरफ लाल और एक तरफ नीली होती थी। शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय-महाविद्यालय सिखाते थे कि हर त्रुटि पर लाल गोला करो और नीली तरफ से लघु हस्ताक्षर करो व निर्देश लिखो। फिर पेन दिए जाने लगे। एक लाल, एक नीला। स्याही भरो और काम में लो। बाद में सस्ते बॉलपेन आने लगे तो शिक्षक खुद अपने पेन से काम लेने लगे। हमने ये तीनों समय देखे हैं। हमने हमारे शिक्षक को कापियाँ जाँचते देखा है और हमने खुद भी कापियाँ जाँची हैं। टोकना और लाल गोले लगाना शिक्षक की शान समझी जाती थी। कक्षा में शिक्षक की बादशाहत होती थी। टोकना और लाल गोले लगाना उसकी बादशाहत की निशानी थी।

बादशाहत की दूसरी निशानी थी डाँटना और डण्डा बजाना। बच्चा त्रुटि करता और मास्टरजी का डण्डा चमकता या डाँट पड़ती। घर पर भी माता-पिता

मास्टरजी का अनुकरण करते। उन्होंने अपनी स्कूल में मास्टरजी को जिस तरह से पढ़ाते देखा था वे भी उसी तरह से पढ़ाते। डण्डा चमकाते या डाँटते-डपटते। हर त्रुटि पर नाराज़गी व्यक्त करना उनका तरीका था। उनका तरीका माने उनकी तकनीक। तकनीक का शास्त्र माने तकनीकी।

वह वक्त था जब हर त्रुटि पर लाल गोले लगाना या हर त्रुटि पर नाराज़ होना, डाँटना-डपटना या डण्डा बजाना अच्छे प्रभावशाली शिक्षण की तकनीकी थी, टेक्नोलॉजी थी।

यह सही है कि सीखना पहले कष्टदायक है फिर सुखदायक। तकलीफ तो उठानी ही पड़ती है सीखने के अभ्यास के दौरान। लेकिन हमें लगातार यह भी सोचना चाहिए कि हम यह तकलीफ कितनी कम कर सकते हैं। एक तकलीफ ऐसी है जो हमारे ही कारण उन्हें पहुँच रही है। हम अभ्यास ऐसा देते हैं जिसका कठिनाई का स्तर बच्चे की क्षमता-सीमा से बहुत ऊँचा होता है और इस कारण उसमें त्रुटियाँ होने की सम्भावना अधिक है। हम अभ्यास वह कराएँ जिसमें विद्यार्थी द्वारा त्रुटियाँ होने की सम्भावना न्यून हो या शून्य हो जाए। ऐसा सवाल बनाएँ कि उत्तर में वह जो लिखे वह सही ही हो, जो बोले वह सही ही बोले। वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के पीछे यही उद्देश्य होता है। रिक्त स्थानों की पूर्ति भी इसी उद्देश्य से कराई जाती है। खूब दें ऐसे प्रश्न। अंग्रेजी में सब्स्टीट्यूशन टेबलों का निर्माण इसे ही ध्यान में रखकर किया जाता है। ढाँचा (स्ट्रक्चर, संरचना) बदले बिना कोई शब्द (क्रिया, विशेषण, वचन, लिंग आदि) रूप बदलकर वही वाक्य ज्यों-का-त्यों, या ढाँचा एक-सा बदलकर (एक्टिव-पेसिव) वापस बोलने लिखने का अभ्यास भी इसी सकारात्मक अभ्यास का अंग है (जैसे स्टैनर्ड ऐलन की 'लिविंग इंग्लिश स्ट्रक्चर', लौंगमेन)।

दूसरी विधि यह कि दस त्रुटियाँ करे वह तो हम दो का ही सुधार करें, हर त्रुटि के सुधार की विधि काम में ही न लाएँ। हर त्रुटि पर गोला न लगाएँ, हर त्रुटि पर डाँट-डपट की पद्धति त्याग दें। यह भी एक तकनीक है। त्रुटि-सुधार का नया शास्त्र है।

तीसरी विधि यह है कि त्रुटि हो तो भी हम नाराज़गी न व्यक्त करें, उलटे शाबाशी दें। शाबाशी इसलिए नहीं कि त्रुटि की है बल्कि इसलिए कि उसने सीखने की कोशिश की है। बच्चे को यह महसूस कराना शिक्षा-शास्त्र का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि वह सीखने में लगा हुआ है, कि वह कोशिश कर रहा है, कि उसकी कोशिश में कोई कमी नहीं है, कि उसकी इन कोशिशों से उसको सिखाने वाले माँ-बाप या शिक्षक बहुत प्रसन्न होते हैं, बहुत आनन्दित होते हैं, कि वे शाबाश कहकर बच्चे की प्रगति पर अपना सन्तोष व्यक्त करते हैं। यह छोटी-

सी लगने वाली बात बहुत बड़ी बात है। आप सन्तोष व्यक्त करें तो बच्चा आगे बढ़ेगा। हताश नहीं होगा। आपका पहला कर्तव्य यही है कि उसमें हताशा पैदा न होने दें।

बच्चा एक दिन मुझे पूछता है कि उसने जो वाक्य बनाया है क्या वह सही है। मैं जानता हूँ वह सही नहीं है पर मुझे यही ठीक लगा कि कहूँ—सही है। मुझे लगा कि फिलहाल यों कहना ही उचित है। 'ज्यादा सही' के लिए बच्चे को ग़लत ठहराना, सुधारना, और दूसरा वाक्य बनवाना अर्थात् वहीं की वहीं क्लास लगाना अभी हम स्थगित रखें तो क्या बुराई है? हम तो क्लास में भी अधिक क्लास लगाने के पक्ष में नहीं हैं, शिक्षक का भी अधिक शिक्षण पर जोर देने के पक्ष में नहीं हैं। जो वाक्य इसने बनाया है वह थोड़ा बहुत भी सही के करीब हो तो उसे सही कहना शिक्षण की एक उचित और अच्छी प्रविधि है। अधिक शुद्धता की हर बार अपेक्षा करने से विकास में बाधा ही पड़ेगी। बच्चे ने टूटा-फूटा जो किया है उसे स्वीकार करने और शाबाशी देने से बच्चे का आत्मविश्वास बढ़ेगा, वह अधिक अभ्यास करेगा और विकास की गति तीव्र होगी। वह यों क्रमशः स्वतः शुद्धता की ओर बढ़ेगा, अधिक विश्वास के साथ बढ़ेगा।

यही कापी में लिखित काम कराने में या गृह-कार्य कराने में होना चाहिए। हर त्रुटि पर लाल गोला लगा कर बच्चे को हतोत्साहित करने से क्या फायदा? उत्साह बढ़ाने वाला अंश कापी में जहाँ कहीं हो उस पर सही का निशान लगाओ, शाबाशी दो, तो उत्साह बढ़ेगा।

एक-दो त्रुटियाँ बता दो, सुधार करा दो, शेष भाग–ज्यादा भाग—शाबाशी का हो तो कितना अच्छा!

मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि अधिकांश त्रुटिपूर्ण शब्दों या वाक्य-प्रयोगों में आप हाँ-हाँ ही कहते जाएँ। जब बार-बार हाँ कह चुकें तो एक-दो शब्द या वाक्य सही करके नया प्रकरण ले लें। यह चौथी विधि है—एक प्रकरण पर अधिक समय तक न रुकना। अर्थात् नया प्रकरण शीघ्र लेना, नया पाठ शुरू करने में ज़रा भी देर ना करना। पढ़ाने का अपना-अपना तरीका होता है। आपका यदि यह तरीका है कि आप सघन शिक्षण करते हैं, जान-बूझकर समय लेते हैं, तो यह अलग विधि है। मेरे एक शिक्षक वर्ड्सवर्थ की 'प्रिल्यूड' कविता के एक अंश पर महीनों लगा दिया करते थे। खूब रस ले-ले कर पढ़ाते, शब्दों के पीछे और भाव के भीतर दूर-दूर तक चले जाते। वह उनका तरीका था, उनकी विधि थी, विद्यार्थी को काव्य-रस से सराबोर कर देने की। उनके ही दूसरे साथी कक्षा के दरवाजे बन्द करा देते और झूम-झूम कर कविता का यों उच्चारण करते मानो कविता उनके अंग में साक्षात्

उतर आई हो। लगता कि हमारा शिक्षक नहीं, कवि बोल रहा है। नाटकीयता इतनी प्रबल और प्रामाणिक कि लगे ही नहीं कि नाटकीयता लाई गई है। यह भी एक तरीका है पाठ को पढ़ने वाले के दिल में उतारने का। इन दोनों उदाहरणों में पढ़ाने वाले का पाठ से इतना गहरा तादात्म्य हो जाता है कि समय गौण हो जाता है। ग़ौर करें, यह सामान्य विधि नहीं है, सामान्य शिक्षक के बस की बात नहीं है।

सामान्य शिक्षक असामान्य बनना चाहे तो जरूर कभी ऐसी तन्मयता का प्रयत्न करे। ऐसी स्थिति का तो मुकाबला ही नहीं है। गणित, अंग्रेजी, हिन्दी—कोई विषय हो सकता है। गणित का शिक्षक बोर्ड पर खुद सवाल हल करेगा और छात्रों से भी कराएगा, भूगोल पढ़ाने वाला नक्शों पर नक्शे टांगता जाएगा, दुनिया के कोने-कोने की सैर करा देगा। अंग्रेजी शिक्षक बड़ी कक्षाओं में प्रगल्भ व्याख्यान देगा या नाटकीय प्रस्तुति करेगा, और छोटी कक्षाओं में ड्रिल करा-करा कर पूरी स्कूल को गुंजायमान करेगा।

यह सब सही, पर सही शब्द और सही उत्तर का अभ्यास नहीं कराया, सही शब्द, सही वाक्य और सही उत्तर की ड्रिल नहीं कराई, तो ग़लतियों पर ग़लतियाँ बच्चा करता रहेगा और हम झुँझलाते रहेंगे, झल्लाते रहेंगे, खीझते रहेंगे, लाल गोलों से कापियाँ भर देंगे, और डाँटते-डपटते डण्डे बजाते रहेंगे।

बताइए, कौन-सा विकल्प पसन्द है आपको? जो भी आपको उपलब्ध हो थोड़ा वह शिक्षा-साहित्य देखिए। उसका अनवरत सतत स्वाध्याय कर, खुद सोच-विचार कर, क्या खुद का अपना विकल्प नहीं बनाएँगे? किसी ने उचित ही कहा है—विकल्पहीन नहीं है यह दुनिया (किशन पटनायक)।

लीक से हट कर चलने में हमें कुछ कठिनाइयाँ जरूर आएँगी। यदि हमने हमारे नए कदम का, हमारी नई प्रविधि का, औचित्य ठीक से समझ लिया है तो अब इसे हमारे शुभचिन्तकों तक भी पहुँचाना होगा, उनको भी सही परिप्रेक्ष्य में समझाना होगा। विद्यालय-प्रधान भिन्न मत के हो सकते हैं। वे जरूर एतराज़ करेंगे। मैंने जब मेरे विद्यालय में यह प्रविधि प्रारम्भ की तो मेरे प्रधानाचार्य मुझ से सहमत नहीं थे। वे बार-बार यही कहते थे कि उन्होंने तो कभी अपने प्रशिक्षण काल में इस तरह की कोई बात कभी नहीं पढ़ी-सीखी। बिल्कुल सही। पाठक जानते हैं कि किसी शिक्षक ने अब आज जो बात सीखी है या पढ़ी है या स्वतः पैदा की है वह तब प्रशिक्षण काल में कहाँ से आ सकती थी?

वे प्रधानाचार्य मेरे एक और नवाचार से परेशान थे। मुझे साल भर में जो पढ़ाना होता था उसका मंथन करके, भली प्रकार विस्तार से विचार करके, मैं स्वयं अपने स्पष्ट शिक्षण-बिन्दु या कहें शिक्षण-सोपान तय कर लेता था और एक मोटी

कापी में करीब 250 ऐसे बिन्दुओं की सूची ब्योरेवार लिख लेता था। उस कापी में इन बिन्दुओं के आगे शिक्षण में सहायक उदाहरण या अभ्यासों के संकेत भी लिख देता। अब डायरी भरनी होती तब उसमें उस बिन्दु की संख्या लिख देता। बस। अब प्रधानाचार्य नाराज़। वे तो परम्परागत जो होता आया है वही देखने के आदी हैं। वही देखेंगे। हमने मेहनत की है, सोचा है, कोई नया काम और अच्छा काम करने की तरफ कदम बढ़ाया है, यह नहीं देखेंगे। मैंने डायरी भरने की यह जो पद्धति शुरू की थी उसके पीछे बल था मेरे एक ऐसे प्रोफेसर का, जो कहा करता था कि पाठ-योजनाओं के लम्बे-चौड़े विवरण में क्या रखा है? तुम चाहो तो उसे लम्बे कागज पर तैयार करो या रद्दी-सद्दी अखबार के किसी कोने पर, टुकड़े पर, और चाहे मन में तैयार करो, काम तो वही आएगा जो तुम क्लास में करोगे। बस, फिर क्या था, डायरी (टीचर्स डायरी) में लम्बे विवरण भरने की प्रथा को मैंने तिलांजलि दे दी और यों शिक्षण-बिन्दु निर्धारित करके डायरी का कंकाल बना दिया। डायरी हमारी, तरीका भी हमारा। दिखावा कंकाल का, पर बात मार्के की। कम-से-कम मैं तो यही समझा।

एक प्रधानाचार्य ऐसे भी मिले जिन्होंने मेरे हर नए कदम का स्वागत किया। सहयोग दिया, सहायता की। शब्द-भण्डार शिक्षण परियोजना की अभ्यास सामग्री को चक्रांकित कराने के लिए जितना कागज मैंने माँगा उन्होंने दिया और चाय पर अपने कक्ष में बुला-बुला कर मेरे नए काम की संकल्पना के स्वरूप को गहराई से समझने की कोशिश की।

विद्यालय-प्रधान से हमारी बातचीत विद्यालय में हो सकती है किन्तु अभिभावकों को कैसे बताएँगे? दो रास्ते हैं—एक तो अध्यापक-अभिभावक संघ (पी.टी.ए.) की बैठक में स्पष्ट करें और दूसरे, विद्यार्थियों से कहते रहें कि वे घर पर इसकी विशेषता को बताएँ।

असहमति और विरोध तो हर नई बात का हर जगह होता ही है। यदि आप अपने शिक्षण को अधिक आसान और असरदार बनाना चाहते हैं तथा अपने शिक्षण को, क्लासवर्क तथा होमवर्क दोनों को, व्यावहारिक दृष्टि से और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पढ़ाने वालों व पढ़ने वालों दोनों के अनुकूल बनाना चाहते हैं तो हर युग में हर जगह कुछ तो कोशिश करेंगे ही। कीजिए, जो अच्छा लगे व सही लगे वह जरूर कीजिए। विद्यालय प्रधान तथा माँ-बाप को भी साथ लीजिए। अकेले भागेंगे तो उलझन पैदा होगी। लोग आपको ग़लत समझेंगे और बाधाएँ खड़ी कर देंगे। वातावरण भी बनाइए और काम भी कीजिए। सुधार का नया शास्त्र निर्माण करना है तो आपको अभी और कई नए-नए काम करने होंगे। हर त्रुटि पर लाल गोले लगा कर सही शब्द या सही वाक्य बच्चे की कापी में रोज लिखते

जाना कितना प्राणान्तक काम है, यह करने वाले सभी शिक्षक जानते हैं। समस्या यही है कि सभी शिक्षक और सभी अभिभावक और सारे-के-सारे शिक्षाधिकारी और सबसे ऊपर हमारे शिक्षक प्रशिक्षक शिरोमणि इसे लाभकारी महालाभकारी मानते चले आ रहे हैं जबकि वास्तव में यह नितान्त अलाभकारी है। हमने जो नई प्रविधि बताई है वह यदि आपको लाभकारी लगे तो इस पर अमल करें और इसके अनुकूल वातावरण निर्माण करें। हो जाए थोड़ा नवचिन्तन? शिक्षक, शिक्षाधिकारी या शिक्षक-प्रशिक्षक—किसी भी स्तर पर?

सामाजिक विवेक की शिक्षा

उच्च शिक्षा संस्थानों को समाज में नई जागृति लाने के लिए सामाजिक विवेक की शिक्षा पर भी ध्यान देना चाहिए। सतत शिक्षा विभागों को ऐसे मुद्दों की पहचान करनी चाहिए जो तर्क और विवेक की कसौटी पर कसे जाने की अपेक्षा रखते हैं, जिन पर समाज एकमत नहीं है, जो व्यापक रूप से विवादग्रस्त हैं। सतत शिक्षा विभागों को और प्रौढ़-शिक्षा संस्थाओं को ऐसे विषयों की भी टोह में रहना चाहिए जो सम-सामयिक विश्वासों पर पुनर्विचार का आधार बनते हों। प्रौढ़ शिक्षा का पहला सूत्र यह होना चाहिए कि हम कितने ही शिक्षित, अनुभवी या वयस्क क्यों न हों हमारे लिए जानने और सीखने को कुछ और भी बाकी है।

देशभक्ति ही ले लें। टैगोर के गोरा उपन्यास को याद करें। कैसा अन्तर्द्वन्द्व और विकास दिखाया है टैगोर ने उस उपन्यास के प्रमुख पात्र गोरा का। राष्ट्रवाद बड़ा है कि देशभक्ति, इसका बारीक विवेचन आपको उसमें मिलेगा। आज भी यह चिन्तन उतना ही प्रासंगिक है जितना गोरा के वक्त था, टैगोर के वक्त था। गोरा में राजनीति के बदलाव और सामाजिक दृष्टि के बदलाव की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। सामाजिक विवेक के विकास का वह एक पुख्ता दस्तावेज है। बदलाव होगा तभी विकास होगा। बाद में टैगोर ने राष्ट्रवाद नाम का एक प्रसिद्ध निबन्ध भी लिखा था, उसमें उन्होंने इस अवधारणा का जो विवेचन किया है उस पर भी नज़र डालें तो ज्ञात होगा कि इस विषय में भटक जाने के कितने-कितने अवसर हैं। बड़े-बड़े ऊँचे विचार, जिन्हें हम ऊँचा मानते हैं उन पर समय-समय से पुनर्विचार नहीं होगा तो हम जरूर भटक जाएँगे। भटकाने वालों की भी कमी नहीं है। भ्रान्ति में डूबे भोले विद्वान् अतिज्ञानी व्यक्तियों की भी कमी नहीं है। प्रौढ़ शिक्षा की प्रक्रिया प्रवाहित होती रहे तो भ्रान्तियाँ और भटकन जरूर दूर हो सकती है। याद रखें, सामाजिक विवेक के अभाव में सामाजिक शक्तियाँ कमजोर हो जाती हैं।

याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद याद करें। या तो पश्चिम में प्लेटो द्वारा बताए गए सुकरात के संवाद प्रसिद्ध हैं या भारत में उपनिषदों के संवाद प्रसिद्ध हैं। संवाद-प्रियता न हो तो सही शिक्षा और आजीवन शिक्षा सम्भव ही नहीं

होगी। संवादप्रिय बनना सीखना भी शिक्षा का और आत्मशिक्षण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चरण है। संवाद करना एक कसरत है और कला भी है। इसके लिए पहली योग्यता होनी चाहिए धैर्य और दूसरी योग्यता होनी चाहिए सचाई को ढूँढ़ते रहने की उत्कट कामना। सिखाने वाला भी धैर्यवान हो और सीखने वाला भी धैर्यवान हो, और दोनों का सहिष्णु होना भी एक बड़ी जरूरत है। तभी संवाद होगा। एक-दूसरे के सहारे वैचारिक विकास की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे। वैसे उपनिषदों में कई जगह हमें तर्क और विवेक के नाम पर केवल बाल की खाल निकालने वाले भी कई प्रकरण मिल जाएँगे, पर वह तो इस प्रक्रिया का अपरिहार्य अंग ही है। कौन-सी कैसी विचार-प्रणाली थोथी है, ग़लत है यह जान कर ही हम जानेंगे कि ठोस और सही विचार-प्रणाली कौन-सी और कैसी होती है।

आपने मार्टिन लूथर का नाम जरूर सुना है। उनकी क्रान्तिकारी भूमिका को सभी जानते और मानते हैं परन्तु यह किसको पता है कि वे कितनी-कितनी भीषण भूल भी कर जाते थे। एक तरफ हम समझदारी दिखाते हैं किन्तु दूसरी ओर यह सम्भावना भी बनी रहती है कि हम महामूर्ख भी हो सकते हैं, किसी-न-किसी जगह महाभूल भी कर सकते हैं। और ऐसा करते हुए भी हम लगातार समझते रह सकते हैं कि हम बिल्कुल सही हैं। हमें पता ही नहीं चलेगा कि हम कितने ग़लत हैं। अज्ञानवश समाज का और परिवार का गौरव मानकर स्त्री जाति को जिन्दा चिता में जला कर भी ढोल-मजीरे बजा सकते हैं। याद करें जिन लोगों ने देवराला के सती-काण्ड का समर्थन किया था या उस प्रसंग से सतीत्व का गुणगान किया था, वे भी ज्ञानी-विद्वान् ही थे। देश के शीर्ष पत्रकार प्रभाष जोशी को उनके ऐसे ही एक सहायक की भूल के कारण प्रबुद्ध महिलाओं का कितना रोष झेलना पड़ा था उस घटना को आप भूले नहीं होंगे। उनके सहायक की विद्वत्ता में कोई शक नहीं है पर एक ही तरफ देखते चले जाने की कुटेव के कारण कितनी उलटी दिशा में वे चले गए यह सब अब भारतीय पत्रकारिता के इतिहास का घोर निन्दनीय पृष्ठ बन चुका है।

अब मार्टिन लूथर का भी वह पक्ष देख लीजिए जो उन्हें आज की दुनिया में प्रशंसा का नहीं घृणा का पात्र भी बना देता है। प्रशंसा का पात्र होने में तो कोई बाधा नहीं थी। वे हुए। हमने उन्हें जिस रूप में जाना है वह तो महाक्रान्तिकारी था, इतना युग-प्रवर्तक था कि यूरोप के इतिहास में उन्हें आधुनिकता का जनक माना जाने लगा। उन दिनों यह एक सर्वमान्य प्रथा थी कि पोप का प्रमाण-पत्र लो और स्वर्ग में प्रवेश पाने का अधिकार पा लो। मरने पर वही प्रमाण-पत्र कब्र में रख दिया जाता था और मान लिया जाता था कि वह व्यक्ति अब स्वर्ग में बिना किसी बाधा के प्रवेश पा लेगा। ऐसा समझ लेते थे कि ऐसे सभी रोमन कैथलिक

ईसाई पक्की तौर से स्वर्ग गए। मार्टिन लूथर ने पोप के इस कृत्य का थोथापन पहचान लिया। पोप जो कर रहे थे उसे उनके हजारों-लाखों अनुयायी आँख मूँद कर स्वीकार कर रहे थे। धर्म के भय ने उनकी आँखें बन्द कर रखी थीं। मार्टिन लूथर स्वयं एक रोमन कैथलिक चर्च के पादरी थे, फिर भी उन्होंने सत्य को सत्य कहा। उनकी तर्कबुद्धि ने उन्हें यह बता दिया कि सत्य क्या है? उन्होंने निर्भीकता के साथ पोप के इस कृत्य का विरोध किया। एक 95 सूत्री पत्र पोप को भेजा और विनम्रता के साथ उनसे अनुरोध किया कि वे ऐसे निराधार प्रमाण-पत्र देना बन्द करें। पोप कब मानने वाले थे, पोप ने उनकी बात नहीं मानी। तब उन्होंने ये 95 सूत्र एक कागज पर लिख कर अपने नगर ब्रिटेनबर्ग के चर्च के द्वार पर चिपका दिए। यह उनकी 95 सूत्री थीसिस कही जाती है। उन्हीं के कारण वे जगत्-प्रसिद्ध हुए और हमारी सबकी प्रशंसा के पात्र बने। उन्हीं के कारण ही यह 31 अक्टूबर, 1517 का दिन यूरोप के इतिहास में आधुनिकता के प्रारम्भ का दिन माना जाता है।

लेकिन कुछ मामलों में अपने अतीत से वे छुटकारा नहीं पा सके और समसामयिक परम्पराओं के संकीर्ण घेरे में ही घिरे रहे। एक तो स्त्रियों के प्रति उनकी दृष्टि नहीं बदली। रोमन कैथलिक चर्च स्त्रियों को पाप की जड़ मानता था, मनुष्य का पहला पाप समझता था। मार्टिन लूथर भी यही मानते थे। इसी कारण वे उन डॉक्टरों को दण्डनीय मानते थे जो स्त्रियों की प्रसव पीड़ा को दूर करने में मदद करते थे। उनकी मान्यता थी कि आदम से यौन सम्बन्ध बना कर हौवा ने या ईव ने मनुष्य जाति का पहला पाप किया था जिसका चुकारा करने के लिए उनका प्रसव-पीड़ा भोगना सर्वथा उचित है। उनकी इस पीड़ा को दूर करने के लिए यदि कोई मेडिकल साइंस का आदमी रिसर्च भी करता है तो मार्टिन लूथर की नज़रों में वह भी दण्डनीय अपराधी था।

उनका एक और भी रूप ऐसा है जो उन्हें हमारी नज़रों में गिराने वाला है। पोप के विरुद्ध आवाज उठाने में उनकी तर्कशक्ति देख कर प्रोटेस्टेंट मत वाले भी उनके समर्थक हो गए थे। वे इनकी सुनते थे। इन्होंने जब देखा कि प्रोटेस्टेंट उदार हैं और यहूदियों से नफरत नहीं करते तो इन्होंने एक पुस्तक लिखी 'द ज्यूज़ एण्ड देयर लाइज़' (यहूदी और उनके झूठ)। इस पुस्तक में इन्होंने प्रोटेस्टेंट मत वालों को धिक्कारा और उनसे कहा कि ये यहूदी तुम्हारे देश में अब तक क्यों बैठे हैं? इन्हें बाहर निकालो, ये जहरीले कीड़े हैं। इन्हें मार डालो या ग़ुलाम बना लो। अब बताइए, उनका यह पक्ष घृणास्पद हुआ कि नहीं हमारी नज़रों में!

ऐसे पोप आज भी मौजूद मिलेंगे न्यूनाधिक सभी समाजों में, जो फतवे देते हैं या हिंसक व्यवहार करके दूसरों की जीवनशैली में बाधा पहुँचाते हैं। बातचीत

या संवाद में जो विश्वास नहीं रखते, मार-काट पर उतर आते हैं और दूसरे लोगों को भी भड़काते हैं कि वे भी उनके जैसे बनें और उग्र व्यवहार करें। धर्म में भी और राजनीति में भी छोटे-मोटे पोप बनने की यह प्रवृत्ति व्यापक रूप में कई क्षेत्रों में देखी जा सकती है। उनको पहचानना, समझना और विमर्श करना भी वयस्क शिक्षा का एक अंग हो सकता है। देवबन्द ने फरमान निकाला फतवे के रूप में कि महिलाएँ मर्दों के साथ काम पर नहीं जा सकतीं और उनको बुरका पहनना होगा। सानिया मिर्जा के स्कर्ट की ऊँचाई पर भी एतराज़ उठा था और शादी के पहले अपने मंगेतर के साथ उठने-बैठने पर भी एतराज़ उठा था। प्रसिद्ध उर्दू कवि और गीतकार जावेद अख्तर ने देवबन्द के इस फतवे का विरोध किया। फल यह हुआ कि उनको जान से मारने की धमकियाँ मिलने लगीं। जान से मारने की धमकियाँ डेनमार्क के कार्टूनिस्ट को भी मिली थीं। यह निशानी है संकीर्णता व असहिष्णुता की। संकीर्णता और असहिष्णुता बदल जाती है कट्टरता में और हिंसा में। शान्ति, समझ और सभ्य व्यवहार का स्थान ले लेती है सामूहिक उग्रता, जो स्पष्ट ही अशिक्षा की अभिव्यक्ति होती है। तथ्यों से आँख चुराने से न सहिष्णुता आएगी और न समझ बढ़ेगी। इनका विकास शिक्षा से ही होगा, विचार-विमर्श और संवाद से ही होगा। लोकतन्त्र की शिक्षा का मूल संवाद में ही है। मुस्लिम समाज की तरक्की का रोड़ा-देवबन्द जैसी ऊँची-ऊँची शिक्षण संस्थाएँ ही बन रही हैं। हिन्दू समाज में भी कई कुरीतियाँ प्रचलित हैं, कई दकियानूसी संकीर्णताएँ वहाँ भी मकड़ी का जाला बनी हुई हैं, अतीत से उत्थान का रास्ता बनाने की बजाय समाज को पीछे ले जाने वाले विश्वासों की जकड़बन्दी की कोशिशें वहाँ भी जारी हैं। ऐसे जितने भी पुरातनपंथी या प्रगतिविरोधी चिन्तन दिखाई देते हों उन सबका अध्ययन होना चाहिए। खाप पंचायतों का व्यक्ति की स्वतन्त्रता व गरिमा पर जो दमनकारी रुझान दिखाई देने लगा है वह भी विचार योग्य है। उन पर संवाद की क्या सामग्री तैयार की जाए, निर्भय और निर्भीक विचार के लिए, कैसे उन पर किन-किन से विचार कराया जाए और कैसे प्रौढ़ जिज्ञासुओं को आम जन समाज की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उन विषयों पर विचार-मंथन में शरीक किया जाए, यह भी प्रौढ़ शिक्षा की संस्थाओं को तथा विश्वविद्यालयों के सतत शिक्षा विभाग को तय करना चाहिए।

साहित्य के माध्यम से भी हम सामाजिक विवेक की शिक्षा का प्रबन्ध कर सकते हैं। तसलीमा नसरीन की पुस्तक 'औरत के हक़ में' (निबन्ध), 'लज्जा' (उपन्यास) और 'द्विखण्डित' (आत्मकथा) वयस्क विचार का अच्छा आधार दे सकते हैं। इन सभी पर अखबारों में खूब विवाद हुआ है। खुद तसलीमा का भारत में निवास भी अभी अधर-झूल में है। पोप और देवबन्द जितना अतार्किक काम

करते हैं उतना ही अतार्किक काम हमारे नेतागण भी करने लग गए हैं। निर्भीकता से न वे विश्वप्रसिद्ध कलाकार हुसैन का बचाव कर सकते हैं और न वे निडर लेखिका तसलीमा नसरीन की रक्षा करने का बीड़ा उठा सकते हैं। इंग्लैण्ड जैसे छोटे-से देश ने सलमान रश्दी की रक्षा का बीड़ा उठाया था जबकि कितने देशों के लोग हाथ धोकर उनके पीछे पड़े थे, मृत्यु का फतवा दे चुके थे ईरान के धर्माधिकारी। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर भी जो ऐसे-ऐसे पहरे पैदा हो जाते हैं उनके गुण-दोषों पर शान्ति, धैर्य व सहिष्णुता से विचार करना सिखाना भी प्रौढ़ शिक्षा की हमारी भावी योजनाओं का अंग होना चाहिए।

याद करें इतिहास की पाठ्यपुस्तकों पर देश भर में विवाद हुआ और उस वैचारिक संघर्ष का एक लम्बा दौर चला। उसका एक कैप्सूल बनाइए और जिज्ञासु प्रौढ़ों के बीच संवाद कराइए। विचार के लिए तब की बहस के कुछ विशेष पहलू अंशतः उनके सामने रखिए। पढ़ें, सोचें और तैयार होकर उस पर विवाद-संवाद करें। धर्म निरपेक्षता को ही ले लीजिए। किसानों की आत्म-हत्याओं, साम्प्रदायिक दंगों, भाषायी आग्रह-दुराग्रह, जातियों की जनगणना, भगवा आतंकवाद, इस्लामी आतंकवाद, माओवादी आतंकवाद या नक्सलवाद, सामाजिक-आर्थिक असमानता आदि और भी कई मुद्दे हो सकते हैं, जिनको विचार के लिए ले सकते हैं। 'हिन्द स्वराज' में गांधीजी के सपनों का भारत भी अच्छा मुद्दा है, और बड़े बाँध तथा बड़े उद्योग भी पर्यावरण तथा ग्रामीण विकास की कई समस्याएँ खड़ी करने वाले हैं, उन पर चिन्तन भी सार्थक होगा। जो मुद्दा या विषय लें उस पर चिन्तन सामग्री हम एकत्र करें और कार्याधार पत्र भी तैयार करें। आपको याद होगा कि 'लगे रहो मुन्नाभाई की गांधीगिरी' की व्यापक लोकप्रियता देखी तो कोटा विश्वविद्यालय ने 'गांधीगिरी' नाम का ही एक पाठ्यक्रम चलाने की घोषणा कर दी। जोधपुर विश्वविद्यालय के गांधी अध्ययन केन्द्र ने भी अभी पिछले दिनों निर्णय लिया है कि वे भी 'गांधीवाद' पर तीन माह का प्रमाण-पत्र पाठ्यक्रम चलाएँगे। सतत शिक्षा विभाग के पास भी पूर्वी और पश्चिमी देशों के विवादों पर संवाद के ऐसे और भी कई विषय हो सकते हैं।

भूले नहीं होंगे आप, जोधपुर विश्वविद्यालय खुद साहित्य की दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकों पर विवाद का केन्द्र रह चुका है। विरोध का सामना नहीं कर सका था विश्वविद्यालय और दोनों को पाठ्यक्रम से वापस लेना पड़ा। एक थी राही मासूम रजा की 'आधा गाँव' (उप.) तथा दूसरी थी अर्जुनदेव चारण की 'धरमजुध' (राजस्थानी नाटक), उन्हीं पर बातचीत कराइए। दोनों तरफ के विचारों को इकट्ठा कीजिए। विचार-मंथन की रूपरेखा बनाइए। निष्कर्ष निकालने के लिए, चिन्तन-मनन के अभ्यास के लिए और संवाद की शिक्षा का प्रबन्ध करने के लिए उस

वाद-विवाद-संवाद या विचार-मंथन से समाज में साहित्य की समझ बढ़ेगी और विवेक की स्थापना होगी।

विवेकपूर्ण विचारशीलता के लिए तो जोधपुर की विरासत और भारत की विभूति स्वयं प्रो. वी.वी. जॉन का लेखन भी हमारा अच्छा मार्गदर्शन कर सकता है। उनका सारा जीवन ही शिक्षा की, साहित्य की और सामाजिक सरोकारों की समझ बढ़ा कर नई चेतना लाने में लगा रहा था। यदि हम सामाजिक विवेक की शिक्षा में उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का मंथन करा सकें तो भी हमें कम लाभ नहीं होगा, बल्कि जोधपुर विश्वविद्यालय के सतत शिक्षा विभाग द्वारा ही नहीं, देश के तमाम विश्वविद्यालयों में उनके ग्रन्थों का अध्ययन हो, यह उस मनीषी को हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

समाज में नवजागरण लाना है तो सामाजिक विवेक की शिक्षा में हमें प्रो. वी.वी. जॉन की विचार-सम्पदा तथा चिन्तनशैली का भरपूर उपयोग करना चाहिए। उनका शिक्षा-दर्शन और जीवन-दर्शन हमारे लिए आदर्श है। सभ्यता पूर्वक बातचीत द्वारा विचारों का आदान-प्रदान और संवाद शिक्षा की प्रक्रिया का एक अत्यन्त मूल्यवान सोपान है। पूरा देश और राजस्थान राज्य तो प्रो. वी.वी. जॉन का ऋणी है ही, जोधपुर नगर और जोधपुर विश्वविद्यालय भी उनका चिर ऋणी रहेगा।

शिक्षक-दिवस कैसे मनाएँ

शिक्षक-दिवस कौन मनाएँ? कैसे मनाएँ? क्यों मनाएँ? अधिकतर इसे छात्रों द्वारा ही मनवाया जाता है। और मनवाने वाले शिक्षक होते हैं। है तो कुछ विडम्बना-सी। एक बार एक लेखक को दक्षिण के किसी स्कूल की एक घटना ध्यान आई और उसने अभिभूत हो कर उस घटना को सभी पाठकों के लिए उल्लेखनीय मान कर एक अखबार में एक लेख लिख दिया।

घटना यह थी। एक अध्यापकजी थे। वे रिटायर हुए। जो राशि रिटायरमेंट पर उन्हें मिली उस राशि से उन्होंने अपनी दो पुत्रियों का विवाह कर दिया। उनका अपना कोई घर नहीं था, सो गाँव जाकर एक झोंपड़े में रहने लगे। वे इतना अच्छा पढ़ाते थे व ऐसा अच्छा स्वभाव था कि सैकड़ों छात्र उनकी प्रशंसा करते थकते न थे। कुछ छात्रों को उनकी इस दीन-दशा की खबर लग गई। उन्होंने उनसे पढ़े चालीस साल पहले तक के उनके पूर्व छात्रों से सम्पर्क किया। कोई कम कमाता था उसने कम दिया, कोई अधिक कमाता था उसने अधिक दिया और कुछ एन.आर.आई. होकर विदेशों में अच्छी कमाई करने लगे थे तो उन्होंने भी दिल खोलकर इस यज्ञ में सहयोग किया। यज्ञ से कम न था उन छात्रों द्वारा संचालित यह अभियान। दस लाख रुपए उन्होंने इकट्ठे कर लिए और अपने सम्माननीय पूजनीय गुरुजी के लिए एक अच्छा मकान बनवा लिया। जब शिक्षक-दिवस आया तो गुरुजी को गाँव से लाए और गाजे-बाजे के साथ समारोह आयोजित कर एक सार्वजनिक सभा में उस मकान की चाबी उन्हें सौंप दी। भावना की अद्‌भुत अभिव्यक्ति थी यह। देश-विदेश दूर-दूर उन छात्रों की, शिक्षक की और स्कूल की कीर्ति फैली और हजारों विद्यार्थियों के सिर उस शिक्षक के सम्मान में झुक गए। जिसने भी अखबार में यह खबर पढ़ी (जनसत्ता 15-10-2009, पृ. 6 'दुनिया मेरे आगे' में अंजलि सिन्हा का लेख 'भरोसे के तार') रोमांचित हो गया। मैंने भी पढ़ी। नाम बताऊँ स्कूल और जगह का? तमिलनाडु के नामखल जिले के गुरु स्वामी पलेयम स्कूल के शिक्षक श्री एस.वी. वेंकटरमन इकतालीस साल अध्यापन करके 1985 में रिटायर हो चुके थे और गत वर्ष यह घटना घटी तब वे 85 साल के थे।

याद करें, हमारे लिए भी कोई शिक्षक ऐसा हो सकता है जिसकी याद वर्षों हमारा पीछा करती रही हो। मेरे भी एक शिक्षक ऐसे थे—पं. शिवबालकराम। वे 1942-44 में मुझे मिडिल स्कूल में पढ़ाते थे। भाषा प्रेम तथा साहित्य प्रेम की उत्कटता का बीज मुझ में उनके कारण ही अंकुरित हुआ था। मैं जीवन भर उनका चेहरा नहीं भूल सकता। कई शिक्षकों ने मुझे पढ़ाया किन्तु उनके जैसा कोई नहीं था। आपके भी कोई शिक्षक अद्‌भुत प्रतिभा व प्रभाव वाले रहे होंगे। उनकी कोई विशेषता आपको विशेष पसन्द आई होगी। मेरा एक मित्र अपने उस शिक्षक को बहुत याद करता है जो दयालु थे और जिनमें और भी कई गुण थे। एक घटना वह अकसर मुझे सुनाया करता है। एक छात्र फीस न दे सका। स्कूल छोड़ गाँव चला गया। उन्होंने उस विद्यार्थी को गाँव से वापस बुलवाया और उसकी फीस भर दी।

मेरे एक-दूसरे मित्र की अंग्रेजी व गणित कमजोर थी। ट्यूशन का सामर्थ्य नहीं था पर था प्रतिभावान व लगन वाला। एक शिक्षक ने उसे बिना पैसा लिए पढ़ाया। ट्यूशन वाले अन्य विद्यार्थियों के साथ उसे भी घर बुलवा लिया और उसकी कमजोरी दूर कर दी। फिर तो वह आगे की सभी कक्षाओं में प्रथम श्रेणी अंक लाता रहा। कितना कृतज्ञ रहा होगा वह उनका, सहज कल्पना की जा सकती है।

ये दोनों मित्र यह बताना भी कभी नहीं भूलते कि उनके वे प्रिय शिक्षक कक्षा में दत्तचित्त होकर कितनी लगन से पढ़ाया करते थे और विद्यार्थियों से व्यक्तिशः सम्बन्ध बना लिया करते थे। पास आकर बैठ जाते थे और उनकी कठिनाई खुद देख लेते थे, दूर कर देते थे, स्नेह से।

जरूरी नहीं है कि शिक्षक स्कूलों में ही मिला करते हैं। अन्य कई धन्धों वाले या बिना धन्धे वाले जन्मजात विद्वान्, साधु-संन्यासी या आवारा मसीहा कोई सज्जन शिक्षक की भूमिका में मिल सकते हैं, हमारे आस-पास गली-कूचों में। जोधपुर और जयपुर की सड़कों पर कितनी ही जिम्मेदारियाँ निभाता नाटे कद का बिल्कुल बच्चे-सी भोली मुस्कान वाली सूरत लिए एक बुजुर्ग लेखक, पत्रकार, राजनीतिकर्मी देखा था मैंने कभी। हरदम सीखने-सिखाने को तैयार। हरदम व्यस्त, हरदम सहायता को तैयार। बिना भेदभाव किसी की भी सहायता को तैयार। हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश सबका ज्ञाता और अनन्त विनम्र। राजनीतिक सभा हो चाहे साहित्यिक सभा, वक्ताओं-श्रोताओं को बुला-बुला कर लाता, हर तरह के प्रबन्ध की चिन्ता करता, यहाँ तक कि जाजम बिछाने व कुर्सियाँ लगाने तक का काम करने में भी वह आगे रहता था। विद्वत्तापूर्ण भाषण धीमे स्वर में देता, मजदूरों के कमजोर बच्चों को हर विषय पढ़ा देता, बी.ए.-एम.ए. वालों की साहित्य, भाषा, राजनीति और अर्थशास्त्र की शंकाओं का

समाधान कर देता। जहाँ मिलता वहीं सिखाने बैठ जाता, भले सड़क किनारे का चबूतरा ही हो। दैनिक-साप्ताहिक पत्रिकाओं के लिए माँगते ही लेख, समीक्षाएँ लिख देता, किसी को साइकिल पर कहीं पहुँचाना हो तो वह काम भी कर देता, घर का खाना भी बना देता और खाना बनाते-बनाते लेख-समीक्षा या अनुवाद का काम भी कर डालता था। नाम था याज्ञवल्क्य गुरु। सब उन्हें गुरुजी कहते थे। अपने राजनीतिक दल में ऊँचे-से-ऊँचे पद पर काम किया किन्तु अभिमान उन्हें लेश मात्र भी कभी छू नहीं सका। सभी दलों के लोग, सभी साहित्यकार, पत्रकार और लेखक उनका सम्मान करते थे। उनके निधन पर उनके साथ पचीस वर्ष काम करने वाले एक सम्पादक ने एक साप्ताहिक में जो लेख लिखा उसमें एक विशेष उल्लेख यह किया कि जिस आदमी ने जीवन भर कभी माला नहीं पहनी (शादी की भी नहीं) उसके निधन पर पूरा शहर उमड़ पड़ा और उनके शव पर मालाओं के ढेर लग गए। इतना लोकप्रिय था वह लोक शिक्षक आम जनसमाज में।

ऐसे निःस्वार्थी, सेवाभावी, विनम्र, मृदुभाषी विद्वान् शिक्षक हमें हमारे गाँव-शहर की स्कूलों में या स्कूलों के बाहर कभी कहीं मिल जाएँ तो शिक्षक-दिवस पर हमें उनकी प्रतिभा व व्यक्तित्व को भी जरूर याद कर लेना चाहिए। ऐसी विभूतियाँ समाज का अनमोल धन होती हैं।

कैसे मनाएँ हम शिक्षक-दिवस? कौन मनाएँ यह दिवस? कैसे याद करें हम हमारे ऐसे उत्कृष्ट और श्रेष्ठ शिक्षकों को?

क्या उत्तर हो इसका, कुछ पता नहीं, पर हमें सोचना जरूर चाहिए। हमें सोचना चाहिए कि क्या शिक्षक स्वयं स्कूल के बच्चों को इकट्ठा कर अपनी पूजा आप करवाएँ? खुद के भाल पर खुद ही टीका लगवाएँ, पुष्पमालाएँ पहनें? या विद्यार्थी साधनहीन अपने किसी सेवानिवृत्त उत्कृष्ट शिक्षक को ढूँढ़ कर आर्थिक सहायता का प्रबन्ध करें? भवन बनवा दें? बेटी की शादी करवा दें?

हम यदि शिक्षक हैं तो हमारा क्या कर्तव्य है, हम माता-पिता, अभिभावक या सामान्य नागरिक हैं तो शिक्षा और शिक्षण की उन्नति का हम क्या उपाय कर सकते हैं? शिक्षक अपने आचार-विचार पर पुनर्विचार करें, माता-पिता-अभिभावक व सामान्य नागरिक भी बच्चों को शिक्षा की दृष्टि से अपेक्षाएँ बदलने की क्या नसीहत दें, यह सब शिक्षक-दिवस पर पूरे समाज के लिए सोचना जरूरी है। शिक्षण-प्रणाली व शिक्षा-तत्त्व की वर्तमान दृष्टि में परिवर्तन पर पुनर्विचार का यह सर्वश्रेष्ठ अवसर है। थोथे नवाचारों, प्रयोगों व थोथे अनुसंधानों की पहचान करना सीखना चाहिए। उपयोगी जो हों उन्हें अपनाना चाहिए। शिक्षा में नवचिन्तन पर शिक्षकों की लगातार नज़र रहनी बहुत जरूरी है। शिक्षकों के हित के लिए बने शिक्षा-संस्थान थोड़े और सक्रिय हों, तभी स्तर उन्नत होगा।

हम क्या करें, हमें सोचना चाहिए, सच्चे शिष्य, शिक्षक व नागरिक के रूप में। हमें सोचना चाहिए सेवारत शिक्षक के रूप में भी, सेवानिवृत्त शिक्षक के रूप में भी, राष्ट्रीय स्तर के या राज्य स्तर के शिक्षा-संस्थान के प्राध्यापक के रूप में भी, और कभी शिक्षार्थी रहे शिक्षा-प्रेमी माता-पिता व अभिभावक के रूप में भी।

जो करना है सांकेतिक प्रतीक स्वरूप करना है, शिक्षकों के प्रति समाज में आदरभाव की स्थापना के लिए। स्कूलों के विद्यार्थियों के मन में तो शिक्षकों के प्रति सम्मान की कोई कमी नहीं होती। माता-पिता और अभिभावकों का यह कर्तव्य है कि वे शिक्षक-दिवस की महत्ता को समझें और विद्यार्थी समुदाय तथा गाँव-शहर के सभी नागरिकों में शिक्षकों के प्रति सम्मान के भाव का वातावरण निर्माण करें। पहल उन्हें करनी चाहिए, सक्रिय उन्हें होना चाहिए।

सांकेतिक प्रतीक स्वरूप किसी वर्तमान शिक्षक का उल्लेख करने की बात हो तो हम तेजकरण डाँडिया का नाम ले सकते हैं जो गणित शिक्षण के कारण (चालीस वर्ष तक उनकी गणित की किताब देशभर की स्कूलों में पढ़ाई जाती रही है) तथा माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान के सचिव रूप में खूब प्रसिद्ध हुए। शिक्षक और शिक्षाविद् के रूप में खूब पुरस्कृत-सम्मानित हुए और 26-07-2013 को 102 वर्ष की उम्र में उनका निधन हुआ।

स्कूलों की सभाएँ हों तो वहाँ भी सक्रियता माता-पिता और अभिभावकों की होनी चाहिए और स्कूलों के बाहर भी सामुदायिक भवनों में या मैदानों में, जहाँ कहीं कोई सभा हो वहाँ शिक्षा और शिक्षकों की महत्ता बताई जानी चाहिए। यह तो सभी कहते हैं, लेकिन हम यह सोचें कि शिक्षा की महत्ता के कौन-से पक्ष पर हम बल दें? शिक्षा के किस स्वरूप में हमारे देश के भावी नागरिकों का भला है, इस प्रश्न का उत्तर पाने में हम प्रायः भारी भूल कर जाते हैं। शिक्षा का सच्चा अर्थ मात्र रोजगार कभी नहीं होता। मात्र नौकरी कभी नहीं होता। खुद अपना रोजगार पैदा करना भी होता है, उद्यम और उद्योग भी होता है, और सबसे बड़ा अर्थ होता है चरित्रवान आदर्श मनुष्य बनाना। जो भी काम करे सत्यनिष्ठा से करे, कार्य-कुशलता से करे, किसी भी काम को छोटा या बड़ा न समझे और चारित्रिक विशेषताओं पर भी बल देने की दृष्टि व चेष्टा रखता हो। यह तभी सम्भव है जब वह भाषा, साहित्य व संस्कृति को तथा परम्परा व प्रगति की महत्ता को समझते हुए वैज्ञानिक दृष्टि से समस्याओं पर विचार कर सके। अध्ययनशील भी हो और विचारवान भी हो। वाणिज्य, विज्ञान, राजनीति, अर्थ, प्रशासन-प्रबन्ध, आदि किसी भी क्षेत्र में काम करे, उसकी वैचारिक पृष्ठभूमि में भाषा, साहित्य व संस्कृति का ज्ञान अधुनातन बना रहे। परम्परा से प्रगति का समन्वय करने की

दक्षता अर्जित करता रहे। पढ़े तब भी, पढ़ाए तब भी और कहीं काम करता हो तब भी, इन विशेषताओं को अपने जीवन का अभिन्न अंग माने।

और इस दृष्टि से दिवंगत श्रेष्ठ शिक्षकों को याद करें, वर्तमान में हों उन्हें लाएँ—सम्मानित करें और अपने-अपने विशेष अनुभव सुनाएँ इन सभाओं में। शिक्षक स्वयं पीछे रहें और कोशिश करें कि माता-पिता व अभिभावक आगे आएँ। शिक्षक कम-से-कम सक्रिय हों तो सबसे अच्छा। टीका करना, या माला पहना कर शिक्षक की जय बोलना या पान-पुंगीफल-अक्षत और नारियल या उत्तरीय से आदर करना अपने-अपने स्वभाव और दृष्टि की बात है। मूल भाव पर जब तक ध्यान नहीं दिया जाएगा तब तक ये औपचारिकताएँ मात्र टोना-टोटका ही बनकर रह जाएँगी।

सरकारी स्कूल में सरकार

एक खास बात चार पत्रिकाओं में नज़र आई मुझे। बात है पश्चिमी तमिलनाडु के पिछड़े हुए जिले इरोड के कुमलन कुट्टई ग्राम पंचायत संघ की वीरप्पांचतंत्रम पंचायत प्राथमिक स्कूल की। इसमें प्रवेश दिलाने आए कलक्टर स्वयं श्री आर. आनन्दकुमार अपनी छह साल की बच्ची गोपिका को। साथ में थी उनकी पत्नी श्रीमती एम. श्रीविद्या। और दोनों चुपचाप खड़े थे प्रवेश दिलाने आए अन्य अनेक माता-पिताओं के बीच एक लम्बी लाइन में। पहनावा बता रहा था कि बाकी सब के सब गरीब थे। रंगरेज, ऑटोरिक्शा चालक, जुलाहे, दैनिक मजदूरी करने वाले आदि। प्रधानाध्यापिका समझी स्कूल का निरीक्षण करने आए होंगे किन्तु बाहर आ कर देखा तो पता चला कि वे अपनी बच्ची को प्रवेश दिलाने आए थे। वे लाइन में ही खड़े रहे और बारी आने पर ही प्रवेश कराया। कोई भाषण नहीं दिया, अपने मातहतों को भी सरकारी स्कूल में भरती कराने को मजबूर नहीं किया। जिज्ञासा किसी ने की तो मात्र इतना ही उत्तर दिया कि 'यह मेरा निजी निर्णय है।' इसके बाद एक शब्द भी नहीं कहा।

पूरे हिन्दुस्तान ने दाँतों तले अँगुली दबाई। अखबारों की यह पहले पेज की खबर बनी, टी.वी. चैनलों ने बढ़-चढ़ कर बताई यह बात अपने दर्शकों को। दिल्ली की साप्ताहिक पत्रिका 'शुक्रवार' का सम्पादकीय लिखा प्रसिद्ध साहित्यकार सम्पादक विष्णु नागर ने। शीर्षक दिया 'इस कलक्टर की 'हिम्मत' तो देखो' और पूरे एक पेज की टिप्पणी लिखते हुए व्यक्त किया—'देखते हैं इस कलक्टर के इस उदाहरण का कहाँ क्या असर पड़ता है।... उम्मीद है कि आनन्दकुमार की यह बेटी भी जब बड़ी होगी तो अपने माता-पिता को धन्यवाद देगी कि उन्होंने इतना साहसिक फैसला ले कर उसकी जिन्दगी को ही बदल दिया। और क्या पता वह आदर्शवादिता में अपने माता-पिता से भी आगे कुछ कर दिखाए।

'इस उदाहरण के बाद कम-से-कम यहाँ की सरकार को तो सोचना चाहिए कि वह सरकारी अधिकारियों के बच्चों का इन स्कूलों में पढ़ाना अनिवार्य करे ताकि इन स्कूलों का ही नहीं, भविष्य में देश का नक्शा भी बदले। ज्यादातर निजी

स्कूल तो एक तरह के नरक हैं, ऐसे नरक जिनमें अपने बच्चों को भेजना हम अनिवार्य मान चुके हैं। लेकिन तमिलनाडु का एक युवा जोड़ा इस सोच के बाहर आ सकता है तो बाकी क्यों नहीं?'

—साप्ताहिक पत्रिका 'शुक्रवार' 24-30 जून, 2011

खबर है कि जब पंचायत को पता चला कि इस स्कूल में कलक्टर की बच्ची पढ़ेगी, तो सरपंच आदि ने वहाँ सारी सुविधाएँ मुहैया करा दीं, जो कि जाहिर है कि इससे पहले भी मुहैया कराई जा सकती थीं मगर नहीं कराई गई थीं।

दूसरी पत्रिका है जोधपुर का दैनिक 'जलते दीप', इसमें श्री प्रमोद भार्गव ने सम्पादकीय पृष्ठ पर एक बड़ा लेख लिखा जिसमें उन्होंने कहा—'जब राजनेताओं, नौकरशाहों और यहाँ तक कि आम आदमी में भी उत्कृष्ट अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों में बच्चों को पढ़ाने की जद्दोजेहद चरम पर हो, तब एक जिलाधीश द्वारा तमिल माध्यम के साधनविहीन विद्यालय में बेटी का नाम दर्ज कराना एक ऐसी आदर्श और अनूठी पहल है, जिसे समान शिक्षा का कारगर उपाय माना जा सकता है।.... कलक्टर आनन्द का आचरण इसलिए भी अनुकरणीय है क्योंकि उन्होंने बेटी का दाखिला पत्नी श्रीमती विद्या के साथ कतार में लग कर एक साधारण नागरिक की तरह तो कराया ही, शाला के अध्यापकों को निर्देश भी दिया कि उनकी बेटी के साथ अन्य बच्चों जैसा ही बर्ताव किया जाए।'

समान शिक्षा लागू करने की आवश्यकता पर बल देते हुए लेखक ने नीति-नियन्ताओं व सत्ता संचालकों को यह याद दिलाया है कि वे 'हर नागरिक को शिक्षा-प्रणाली के माध्यम से सामाजिक न्याय उपलब्ध कराने के समान अवसर मुहैया कराएँ ताकि दलित, पिछड़े व अभावग्रस्त वर्गों के बच्चों को शिक्षा हासिल करने के एक समान अवसर मिल सकें...।'

'ऐसे में इरोड के कलक्टर डॉ. आनन्दकुमार ने अपनी बेटी को तमिल भाषी स्कूल में भरती कराकर एक ऐसा पाठ प्रस्तुत किया है, जिससे सबक लेकर हमारे नीति नियन्ता शिक्षा में आमूलचूल बदलाव ला सकते हैं। इस उपाय में दम तोड़ रही मातृभाषाओं को जीवनदान मिलेगा।'

—जलते दीप, 2 अगस्त, 2011

तीसरी पत्रिका है दिल्ली का दैनिक 'जनसत्ता'। इसमें एक राज्य के शिक्षा मन्त्री रहे स्वामी अग्निवेश ने इरोड कलक्टर के इस कदम का स्वागत कर खुशी प्रकट की है और कहा है—'एक कलक्टर का अपनी बेटी को सरकारी स्कूल में दाखिला दिलाना समूचे देश के लिए प्रेरणा है। इस बात की प्रशंसा होनी चाहिए।'

उनका कहना है कि अमेरिका जैसे पूँजीवादी देश में राष्ट्रपति से लेकर चपरासी तक का बच्चा एक साथ ही सरकारी स्कूल में पढ़ता है। सभी स्कूल सरकारी हैं। निजी स्कूल तो न के बराबर हैं। हमारे यहाँ इसका उलटा है। अमेरिका पूँजीवादी देश है जबकि हम अपने देश को समाजवादी कहते हैं। अग्निवेश ने लिखा है, 'कहने के लिए हमारा देश समाजवादी है, पर हमारी व्यवस्था पूँजीवादी हो गई है। हम अमेरिका या यूरोप की उन नीतियों को तो आसानी से अपना लेते हैं जो हमारे देश के लिए हानिकारक हैं, पर जो हमारे लिए उपयुक्त और सही हैं उसे हाशिए पर रख देते हैं।'

बहुत गहरे विचार की है यह स्वामीजी की बात। हमें सोचना चाहिए कि हम क्या कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं। स्वामीजी ने सच ही कहा है—'हमारे यहाँ सरकारी कर्मचारी या सरकार से वेतन लेने वाले खुद स्कूल के अध्यापकों तक को अपने बच्चों को सरकारी स्कूल में पढ़ाना निम्न स्तर का लगता है। उनके विचार में सरकारी स्कूलों में केवल गरीब तबके के लोग ही अपने बच्चों को पढ़ने के लिए भेजते हैं। जब खुद सरकारी स्कूल के शिक्षकों का सोच ऐसा होगा तो इन स्कूलों की हालत कैसे सुधरेगी?'

और यह सब कह कर स्वामीजी कामना करते हैं—'ऐसे कलक्टर पूरे देश में क्यों नहीं हो सकते यह हमें सोचना चाहिए।'

—जनसत्ता, 18 अगस्त, 2011

चौथी पत्रिका है रायपुर (छत्तरगढ़) से प्रकाशित होने वाली साहित्यिक-वैचारिक मासिक पत्रिका 'अक्षर पर्व'। इसके सम्पादक श्री सर्वमित्रा सुरजन ने शीर्षक दिया 'सरकारी स्कूल में सरकार' और इस घटना पर अपनी ओर से एक लेख लिख दिया। शीर्षक में उन्होंने उचित ही लिखा ऐसा क्योंकि कलक्टर किसी जिले का अध्यक्ष होने के नाते वहाँ वह सरकार का एकमात्र प्राधिकृत प्रमुख प्रतिनिधि होता है। सरकार की ओर से वह पूरे जिले का शासक होता है। यदि वह एक मामूली सरकारी स्कूल में अपनी पुत्री को प्रवेश दिलाने चला आए तो प्रतीकात्मक रूप से यह स्वतः प्रमाणित है कि स्वयं सरकार ही चली आई है उस स्कूल में। श्री सुरजन ने लिखा—

'आजादी के बाद से अब तक शिक्षा प्रणाली में सुधार के लिए कई आयोग बिठाए गए लेकिन किसी की सिफारिशों को ईमानदारी से लागू नहीं किया गया। सुझाव वहीं तक सुने गए, जब तक कि वे निजी क्षेत्र के लिए असुविधाजनक न बनें। नतीजा यह हुआ कि शिक्षा-जगत् में निजी क्षेत्र पर जनता का भरोसा बढ़ता गया और सरकारी स्कूल केवल उन विद्यार्थियों के लिए रह गए, जिनके माँ-बाप

महंगे स्कूलों की फीस नहीं दे सकते, उनके खर्च नहीं उठा सकते। सरकारी स्कूलों की ओर सरकार का ध्यान कम होने से उनका स्तर गिरता जा रहा है और उसे उठाने की चिन्ता किसी को नहीं है। सरकारी स्कूलों की दुर्दशा पर एक सीधा सरल सुझाव यह दिया जाता है कि अगर सरकारी अधिकारियों-कर्मचारियों के बच्चे वहाँ पढ़ने लगें, तो स्तर अपने आप सुधर जाएगा।'

सुधर गया। जिलाधीश की बच्ची पढ़ने आई है यह खबर जब पंचायत वीरप्पांचतंत्रम के अधिकारियों को लगी तो वे दौड़े आए और यह सुनिश्चित कर लिया कि उस विद्यालय में सभी बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध हों। श्री सुरजन की टिप्पणी है—'सरकारी संस्थाओं का स्तर कैसे सुधारा जा सकता है, यह इसका छोटा-सा प्रमाण है। गरीबों के बच्चों की कोई विशेष जरूरतें नहीं होती हैं। विद्यालय में पीने का पानी साफ रहे, शौचालय रहे, बिजली रहे, मध्याह्न भोजन की उचित व्यवस्था हो और इन सब के ऊपर पढ़ाने के लिए समर्पित शिक्षक रहे। इतना ही उन्हें मिल सके तो उनका पढ़ना और देश का बढ़ना आसान हो जाए।'

—अक्षर पर्व, जुलाई, 2011

स्मरण रहे, कलक्टर श्री आनन्दकुमार ने विद्यालय के शिक्षकों को सूचना दी कि उनकी बच्ची को अलग से कोई नाश्ता घर से नहीं भेजा जाएगा, विद्यालय में 'मिड-डे मील' नाम से जो नाश्ता दिया जाता है, उनकी बच्ची को भी वही नाश्ता दिया जाए।

क्या हमारा समाज इनसे कोई शिक्षा लेगा?

कोचिंग की जरूरत पर सवाल

शिक्षा का स्तर गिरा हुआ है, उसे ऊँचा उठाना है, ऐसा हर कोई कह देता है। कुछ अनुभव से कहते हैं, कुछ रोब जमाने के लिए और कुछ फैशन में। अभी पिछले दिनों इन्फोसिस के सह-संस्थापक नारायणमूर्ति ने अस्सी प्रतिशत आईआईटी की शिक्षा प्राप्त को घटिया स्तर का कह कर एक नई बहस खड़ी कर दी है। उन्होंने इसका दोष कोचिंग संस्थानों को दिया है, इस कारण बहस का दूसरा केन्द्र कोचिंग शिक्षा प्रणाली भी हो गई है।

नारायणमूर्ति से पहले जयराम रमेश ने आईआईटी वालों के स्तर पर चिन्ता प्रकट की थी। उनकी यह चिन्ता तो रोब गालिब करने वाली या फैशन में प्रकट की गई हो सकती है, किन्तु नारायणमूर्ति निश्चित ही अनुभव से बोले हैं।

कुछ लोग होते हैं जिनको अपने काम के लिए कई लोगों की जांच-परख करके अपने काम में सहायता के लिए नियुक्त करना होता है, चयनित किए गए को नियुक्ति पश्चात् काम करते देखना भी पड़ता है और अलाभकारी को हटाना भी पड़ता है। ऊँची से ऊँची पढ़ाई करके आने वालों की योग्यता और आचरण वे अपनी आँखों से देखते हैं, उनके काम को बहुत पास से अनुभव करते हैं और तब दुःखी हो कर उन्हें विदा भी करते हैं। अपने काम को आप खराब होते नहीं देख सकते। आपको ऐसे लोगों को विदा करना ही पड़ता है जिनकी सेवाएँ लाभकारी नहीं होतीं, सन्तोषजनक नहीं होतीं। फिर कोई भले आपको आततायी, निरंकुश तानाशाह या आतंककारी ही क्यों न कहे। स्टीव जॉब्ज को कई लोगों ने 'टाइरंट' (आतंककारी और तानाशाह) कहा है, अन्ना हजारे को भी लोगों ने आतंकी कह डाला है। अन्ना हजारे ने खुद कहा है कि उनका आदर्श गांधीजी भी हैं तो छत्रपति शिवाजी भी हैं। वे सादे, सरल और अहिंसा-प्रेमी हैं तो सुधार के मामलों में कठोरता व दृढ़ता के प्रयोग से पराङ्मुख नहीं होते। अब आप समझ जाइए कि जब कोई काम पक्के और श्रेष्ठ रूप में हो तो जोर लगाना ही पड़ता है और जोर भी पक्का लगाना पड़ता है। जिधर भी ढिलाई हो रही हो, या त्रुटियों पर त्रुटियाँ हो रही हों, तो उधर दृढ़ता व कठोरता बरतनी ही पड़ती है।

तो हुआ यह है कि इन्फोसिस के सह-संस्थापक और सिलिकॉन वैली के सिरमौर नारायणमूर्ति ने जब कहा कि आईआईटी से निकलने वाले 80 (अस्सी) प्रतिशत लोग बहुत कमजोर होते हैं तो यह उन्होंने अपने निजी औद्योगिक अनुभव के आधार पर ऐसा कहा था। जो कहा वह पूरी गम्भीरता से कहा, और शिक्षा से सम्बन्धित लोगों को अपनी कार्यविधि पर पुनर्विचार का परामर्श देने की दृष्टि से कहा। इसमें तो कोई बुराई नहीं थी। शिक्षा-विभाग के अधिकारी जब स्कूल-कॉलेजों का निरीक्षण-परिवीक्षण करके आते हैं तो अन्य स्कूल-कॉलेजों को सावधान करने के लिए ऐसा कहते ही हैं, इसमें भी कोई नई बात नहीं। सामान्यतया कई पत्रकार, समाज-सेवी या अभिभावकगण भी ऐसे उद्‌गार प्रकट प्रायः किया करते हैं और शिक्षकगण व शिक्षा-समुदाय के सभी घटक भी स्तर ऊँचा उठाने के उपायों पर विचार करते भी हैं।

लेकिन आईआईटी से ही शिक्षा प्राप्त अंग्रेजी लेखक चेतन भगत ने इसका बहुत बुरा माना। वे दूसरे ध्रुव पर खड़े हो गए। नारायणमूर्ति का निष्कर्ष मानने को क़तई तैयार नहीं हैं। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि नारायणमूर्ति ने यह बयान दे कर भारी भूल की है। आईआईटी वालों ने नहीं तो किसने उनके व्यापारिक प्रतिष्ठान को इतना ऊँचा उठाया है? चेतन भगत ने माँग की कि वे अपने इस भूल भरे बयान के लिए माफी माँगें।

इस वाग्युद्ध में एक और नामी शिक्षक, 'सुपर-थर्टी' की प्रसिद्धि वाले, पटना के आनन्दकुमार भी जुड़ गए हैं। वे कोचिंग संस्थानों को दोष देना उचित नहीं मानते। कहते हैं कि जरूरत है आईआईटी संस्थानों में प्रवेश की प्रणाली में बदलाव लाने की। कोचिंग संस्थानों में रटाई होती है तो क्या बुरा है? ठीक ही कहा उन्होंने। पक्की पढ़ाई के लिए पक्के तौर से पढ़ना होगा और पक्के तौर से पढ़ने का ही एक भाग पक्के तौर से याद करना भी होता है जिसका दूसरा नाम है—रटना। तो रटना कोई बुराई नहीं। कोचिंग भी कोई बुराई नहीं। आनन्दकुमार कहते हैं कि आईआईटी वाले कौन से रट्टूपीर नहीं होते? उनका मानना है कि यह समस्या गहरा विश्लेषण माँगती है। पाँच-पाँच लाख लोग बैठते हैं आईआईटी और जेईई में हर साल। कितना कठिन होता है उनमें उत्तीर्ण होना! नारायणमूर्ति का कहना यही है कि कोई उपाय होना चाहिए। आनन्दकुमार कहते हैं कि परिवर्तन प्रवेश-परीक्षा के प्रश्न-प्रकारों में भी हो और शिक्षण विधियों में भी। पुनर्विचार तो होना ही चाहिए। नारायणमूर्ति की इस राय को आनन्दकुमार नहीं मानते कि कोचिंग का इसमें कोई दोष है। और यह भी एक तथ्य है कि इन आईआईटी और एनआईटी में हजारों पद खाली पड़े हैं। खाली पड़े पद कमजोरी नहीं लाएँगे तो और क्या लाएँगे? फिर भी कई लोग हैं जो कोचिंग प्रणाली के खिलाफ हैं। कुछ तो यह

कह कर खिलाफ हैं कि कोचिंग संस्थानों में बड़ा उद्देश्य सही शिक्षण नहीं बल्कि दुकानदारी होता है। कुछ लोग यह कह कर खिलाफ हैं कि कोचिंग प्रणाली सच्ची शिक्षा प्रणाली ही नहीं है। भारत सरकार के पूर्व शिक्षा सचिव और निष्ठावान शैक्षिक चिन्तक अनिल बोर्दिया तो कोचिंग को शिक्षा का अंग ही नहीं मानते। अमूमन वे इसकी भर्त्सना करते रहे हैं। पिछले दिनों दूरदर्शन पर 4 सितम्बर की कोचिंग सम्बन्धी चर्चा में भी उन्होंने यही कहा था।

बात यह है कि सच्ची शिक्षा प्रणाली में कच्चा-पक्का नहीं देखा जाता। अच्छा और सच्चा देखा जाता है। अच्छी और सच्ची शिक्षा का उद्देश्य शिक्षार्थी में स्वयं सीखने की क्षमता पैदा करना है। शिक्षा-प्राप्ति में रस पैदा करना है। नौकरी नहीं, परीक्षा नहीं, ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया में डूब जाना और इस प्रक्रिया में ही सक्रिय रहना और इस प्रक्रिया की सक्रियता को जीवन का अंग बना लेना ही अच्छी और सच्ची शिक्षा है। ऐसा वे मानते हैं जो कोचिंग के सख्त खिलाफ हैं। जो कोचिंग संस्थाओं के खिलाफ हैं वे यह भी मानते हैं कि अच्छी और सच्ची शिक्षा पद्धति से पढ़ाए लोग आईआईटी में भी कच्चे नहीं उतरेंगे और लोभी-लालची—ताबड़तोड़ होड़ की दौड़ में शामिल होने वाले भी नहीं होंगे। कम पढ़ेंगे, और मामूली काम भी करेंगे, तो भी उनकी सत्यनिष्ठा और कर्मठता निश्चित ही उच्चकोटि की होगी। सरकारी स्कूलों में भी शिक्षकगण निष्ठापूर्वक अच्छी और सच्ची शिक्षा पर बल देना प्रारम्भ कर दें तो लोग निजी संस्थाएँ छोड़-छोड़ कर सरकारी संस्थाओं की ओर मुड़ जाएँगे। ताबड़तोड़ होड़ नहीं, चरित्र-निर्माण और व्यक्तित्व-निर्माण उनका प्रमुख ध्येय होगा। कोचिंग को लोग दुनियादारी की दृष्टि से श्रेष्ठ मानते हैं और लालच के कारण लाखों लोग लाखों रुपए कोचिंग में बरबाद करते हैं। दूसरी ओर वंचितों-साधनहीनों को, लोक कल्याणकारी दृष्टि से, इस होड़ में आगे ले जाने के लिए 'सुपर-थर्टी' वाले आनन्दकुमार अपनी जेब से पैसा लगाते हैं, अपनी प्रतिभा का उपयोग कर श्रेष्ठतम नए-नए प्रतिभावान वंचितों में से ऊपर लाते हैं। किन्तु हमारा आदर्श हर सरकारी-ग़ैर सरकारी स्कूल में अच्छी और सच्ची शिक्षा की स्थापना हो तो कैसा रहे? जिसे कच्ची पढ़ाई माना जाता है क्या वही कल पक्की और सच्ची पढ़ाई में परिवर्तित नहीं की जा सकती? और कोचिंग की सकारात्मक शक्ति को भी हमें नहीं भूलना चाहिए।

समाज के लिए यह बहस एक बड़ी चुनौती है, और व्यापक रूप से हमें इस पर विचार करना चाहिए।

बाकी लोग जाओ

किसी भी इन्टरव्यू में ऐसा भी कभी होता है कि एक ही पंक्ति में खड़े प्रत्याशियों में से इधर वालों को कहा जाए—लिया, लिया, लिया और शेष को कहा जाए—अब बाकी लोग जाओ? ऐसा हुआ। मैंने अपनी आँखों से देखा। खुद अनुभव किया अन्दर तक। तभी आज तक याद है वह बेतुकी बात। शिक्षा-जगत् की, शिक्षाविदों की, शिक्षा के निर्माण की!

बात बहुत पुरानी है। साठ वर्ष से भी अधिक पुरानी। जोधपुर से चौपासनी साइकिल पर आधा घण्टे का रास्ता है। तब जोधपुर का आज का महाकाय विराट् उपनगर सरदारपुरा जालोरी गेट के बाहर चौपासनी गाँव की दिशा में जन्म ले रहा था। जालोरी गेट से आगे की उस तरफ जाने वाली सड़क सूनी पड़ी रहती थी। 'दूसरी' रोड सरदारपुरा के बाद झाड़-झंखाड़ शुरू थे। मसूरिया पहाड़ी के पास एक सड़क मुड़कर उत्तर दिशा में कायलाना झील की तरफ जाती थी। जो सड़क सीधी पश्चिम दिशा में जाती थी वह चौपासनी गाँव तक जाती थी। जंगल ही जंगल, पहाड़ ही पहाड़। वीरान और बियाबान। अब शहर फैल गया है, चौपासनी तक हाउसिंग बोर्ड के हजारों मकान बन गए हैं, लोग बस गए हैं। बाजार, मन्दिर और स्कूलें सब-कुछ हो गए हैं, उस बियाबान में।

मुझे जिस स्कूल जाना होता था वह चौपासनी गाँव के बाहर पहले थी, बाईं तरफ थी। तब पूरे मारवाड़ में दो ही हाई स्कूलें थीं, एक तो 'दरबार हाई स्कूल' जोधपुर शहर में मोहनपुरा के पास, जहाँ मैं दसवीं तक पढ़ा था, और दूसरी आठ-नौ कि.मी. दूर जोधपुर के बाहर चौपासनी में। चौपासनी वाली स्कूल राजपूत बालकों के लिए आवासीय स्कूल थी। इन दोनों हाई स्कूलों के लिए विशाल भवन बने हुए थे और खूब लम्बा-चौड़ा स्थान खेल के मैदानों के लिए था। ऊँची-ऊँची बाउण्ड्री वॉल थी। दोनों के प्रधानाचार्यों के लिए बाग-बगीचे वाले बड़े-बड़े बंगलानुमा क्वार्टर थे। चौपासनी स्कूल में एक बड़ा बंगला स्कूलों के अंग्रेज डाइरेक्टर ए.पी. कॉक्स के लिए था। कॉक्स न्यूजीलैंड से आए थे।

हमने सुना कि चौपासनी स्कूल में अध्यापक लिए जा रहे हैं। मेरे साथ बचपन से मैट्रिक तक सुखदेव रामावत पढ़ा था। मेरा मित्र था। हम दोनों नौकरी के लिए फलौदी से जोधपुर आए। फलौदी जोधपुर से आज ढाई घण्टे का रास्ता है ब्रॉडगेज ट्रेन से, लेकिन तब रेल द्वारा रात भर का रास्ता था। फलौदी टर्मिनस था। अब तो रेल आगे जैसलमेर तक जाती है। यहाँ इंजन घूम कर रेल में वापस दूसरी तरफ लग जाता था। रेल रात भर चल कर आती थी और दिन भर चलकर वापस जोधपुर पहुँचती थी। जोधपुर वाले हिकारत से इसे मोथा-मेल कहते थे। मोथा माने मूरख या गँवार। हम गाँव के गँवार लोग थे, मूरख लोग थे। कहावत भी है—थल थोथा, मोथा घणा। थल माने रेगिस्तान। रेगिस्तान में न पैदावार होती है और न यहाँ रहने वालों में कोई समझ होती है। ऐसा शहर वाले सोचा करते थे। ठीक भी है, हम पहनते थे स्थानीय मोचियों के बनाए मटमैले जूते और वे पहनते थे चमाचम करते बूट। हम पहनते थे मैले-कुचैले कपड़े मुड़े-तुड़े, और वे पहनते थे झकाझक कपड़े इस्तिरी किए हुए। मेरी नानी कहती थी उन्हें—'फैनाफैन'।

मेरे पिता प्राइमरी स्कूल के अध्यापक थे। फलौदी में सातवीं तक ही स्कूल थी। उन्होंने बड़ी कठिनाइयाँ उठाकर मुझे जोधपुर दरबार हाई स्कूल के हॉस्टल में रखा और दसवीं तक पढ़ाया। क्लास में जाते ही 'फैनाफैन' कपड़ों में खड़ा गोरा-चिट्टा मुझ से चार अंगुल ऊँचा अता मोहम्मद कहा करता था—'मोथा मेल' आ गई, 'मोथा मेल' आ गई। उसके साथ अच्छे घरों के दो-तीन बच्चे और हँसते। उनके लिए यह खेल था। मेरे लिए सकुचाने के सिवा और क्या हो सकता था! मैंने कभी उन्हें रोका-टोका नहीं, मैं कभी किसी से किसी बात पर लड़ा नहीं। पिता शिक्षक थे, शान्त प्रकृति के थे। मैं भी शान्त प्रकृति का था। उनसे मैंने शुरू से ही शान्त प्रकृति पाई थी। तब तो मुझे कुछ पता न था किन्तु अब मैं कह सकता हूँ कि पिता से मैंने जो प्रकृति पाई थी वह सही प्रकृति थी, सीखने की प्रकृति थी। अवलोकन; अनुशीलन और अध्ययन की प्रकृति थी। मैं मानव-स्वभाव का अध्ययन करता था। यह मैं तब नहीं जानता था पर अब कह सकता हूँ। अब तो मैं एक बहुत अच्छी किताब कभी की पढ़ चुका हूँ—'देखा, सोचा, समझा', शायद यशपाल की लिखी हुई है। वही मैंने किया। दुनिया को देखा, सोचा और समझने का यत्न किया। और मेरे लिए वह बहुत उपयोगी रहा। बड़े-बड़े झटके खाए जीवन में, 'फैनाफैन' अजब-ग़ज़ब लोगों का 'थोथापन' और 'मोथापन' बहुत करीब से देखा। महानुकसान उठाया बार-बार, किन्तु थोड़ा-थोड़ा आगे भी बढ़ता रहा।

'फैनाफैन' अजब-ग़ज़ब लोगों के थोथापन और मोथापन की ही यह कहानी है। आपको बताता हूँ कैसा विचित्र व्यवहार किया उन्होंने मेरे साथ और कैसा हास्यास्पद फैसला दिया उन्होंने मेरे मित्र सुखदेव रामावत और कुछ अन्य लोगों के

हक में। हम दोनों आज भी मित्र हैं साठ वर्ष बाद भी, दोनों दो दशक पहले सेवा-निवृत्त हो चुके हैं, दोनों दूर नहीं आमने-सामने एकदम पास ही रहते हैं, लेकिन उन 'फैनाफैन' अजब-ग़ज़ब लोगों ने हमें एक झटके से अलग कर दिया था, बहुत दूर फेंक दिया था।

बात यों हुई कि सुखदेव रामावत अपने किसी सम्बन्धी के घर जा कर ठहरा जोधपुर में और मैं भी ठहरा मेरे एक सम्बन्धी के घर जोधपुर में। दोनों अपने-अपने सम्बन्धियों की साइकिल माँग कर चौपासनी गए। प्रधानाचार्य से मिले। उनके सवालों के जवाब दिए। प्रमाण-पत्र दिखाए। स्काउटिंग में, खेल-कूद में, हम दोनों होशियार थे। फर्स्ट क्लास पास किए हुए थे। वह भी हमने उन्हें बताया। बैज लगाकर, खाकी स्काउटिंग ड्रेस पहनकर गए थे खाकी चड्डियों (निकरों) में। वह भी उन्होंने देखा। मैं तो नाम का स्मार्ट था, सुखदेव (आज भी) सचमुच स्मार्ट है। स्मार्ट भी और मजबूत भी। हाथ मिलाता है तो इतना जोर का दबाता है कि लगता है हड्डियाँ चटक जाएँगी। तब भी वह कसरती जवान था, हॉकी का अच्छा खिलाड़ी था। हम दूसरी-तीसरी में थे तब वह उछल-उछल कर जिस जोश से फुटबॉल खेलता था वह दृश्य आज भी मेरी आँखों के सामने तैरता है। मैं जिमनास्टिक करता, पिरेमिड में सबसे ऊपर चढ़कर सलाम करता और बास्केट बॉल खेलता। लेकिन मुझमें उतना दम-खम न था जितना सुखदेव में था। यह थी भीतर की बात। बाहर तो यही कि दोनों एक जैसे परिश्रमी, निष्ठावान और गुणी थे। दसवीं बोर्ड की परीक्षा पास थे दोनों, द्वितीय श्रेणी। एक ही उम्र के थे, एक ही कद के थे, एक ही रूप-रंग के थे—श्यामल वर्ण। और एक-सा ही कष्ट उठाया था दोनों ने इस नौकरी को पाने की उम्मीद में। आए तो कष्ट, ठहरे तो कष्ट, साइकिल माँगी तो कष्ट और इतनी दूर साइकिल चला कर आना-जाना रोज का यह भी कष्ट। एक इस उम्मीद में कि शायद हमारे कष्ट को कोई देखे न देखे, पर हमारी योग्यता को तो कोई जरूर देखे। अब किसने कैसी देखी हमारी योग्यता, वह सुनिए।

प्रधानाचार्य ने हमारे प्रमाण-पत्र देखे, और भी कई प्रत्याशी थे, उनके भी प्रमाण-पत्र देखे, और सबसे कहा—अमुक कक्षा में जाओ और पढ़ाओ, मैं देखने आता हूँ। हम पढ़ाते और वे देखने आते। शाम कहते, कल आना। हम कल भी जाते। वे कहते, कल आना। हम फिर कल जाते। फिर कहते, कल आना और हम फिर कल जाते। और यह क्रम यों हफ्ते भर चलता रहा।

मेरे लिए यह रोज-रोज का इतनी लम्बी दूरी से, माँगी हुई साइकिल पर, जाना-आना कितना कठिन हुआ, अब आपको क्या बताऊँ? मैं जिस सम्बन्धी के घर ठहरा था उसकी पत्नी गाँव चली गई। मेरा सम्बन्धी बोला, 'रसोई बनानी

आती है?' मैंने हाँ कह दिया। बनाई कहाँ थी? स्कूल में स्काउटिंग के कैम्पों में, रैलियों में, मित्रों की मदद से कुछ कर लेते थे, कुछ घर में माँ को बनाते देखा था, बस। वही अनुभव था। उसके बल पर हाँ कर दी। और फँस गया। पूरे एक माह के लिए फँस गया।

काकाजी वकील थे। कभी पोकरण ठिकाणे के कामदार और जुडिशियल मजिस्ट्रेट रहे थे। पोकरण हवेली (त्रिपोलिया बाजार के पास) में रहते थे। चार-पाँच कमरों वाला एक बड़ा मकान उन्हें उस लम्बी-चौड़ी हवेली में मिला हुआ था। परिवार पोकरण था। काकाजी सामान का पैसा मुझे दे दिया करते और मैं उनका खाना बनाता, उन्हें खिलाता और खुद खा कर चौपासनी जाता। लौट कर फिर वही क्रम। आया था क्या करने और क्या करना पड़ गया? आए थे हरि भजन को ओटन लगे कपास। खाना बनाना भी, बर्तन माँजना भी और बाजार से तरकारी, आटा-घी व अन्य सामान याद रखकर लाना भी। मैंने कहा—'याद रख कर लाना भी'। जी, यह भी एक जरूरी काम था—'याद रखना'। काम के मूल्य की गणना करने वाले जिसे कहते हैं 'ऑपरेशन'। कागज का पलटना हो चाहे मोड़ना हो, चाहे रैपर या रैपर पर ग्राहक का ठिकाना चिपकाना, हर एक काम कहलाता है 'ऑपरेशन' और उसकी चुकानी होती है कीमत। चूक नहीं सकते। काम करना ही होता है। इसलिए कहा 'याद रखकर'। कोई उम्र हो काम काम है, कर्तव्य कर्तव्य है। करणीय है।

अच्छी कसरत हो गई। ज़रा भी चूके तो वकील साहब कैसे जाएँ काम पर और कैसे जाऊँ मैं मेरे काम पर। उम्र थी अठारह साल। कड़ी परीक्षा होने लगी दोनों तरफ। घर भी और स्कूल भी। स्कूल में पता नहीं कब आ कर प्रधानाचार्य क्लास में सबसे पीछे वाले बच्चे के पास बैठ जाते और मेरे हाथ-पाँव फूलने लगते। तीस-चालीस बच्चे पाँचवीं-छठी की हर क्लास में हुआ करते। जैसे पढ़ा था वैसे ही पढ़ाता। अपने पढ़ाने वालों के तरीके याद करता, खड़े होने, बोलने-पूछने के तौर-तरीके याद करता, पीछे के बच्चे पर ध्यान देने की विधि याद आती, घूम-घूम कर कापियों में लिखे जा रहे उत्तरों पर नज़र डालने की विधि भी याद करता। गरज यह कि पूरी कोशिश की मैंने एक लायक शिक्षक का लायक पुत्र सिद्ध होने की। घर पर परीक्षा भोजन बनाने की और स्कूल में परीक्षा विधिवत् पढ़ाने की।

काकाजी वकील साहब ने सोचा था आज अर्जी दी है तो एक-दो रोज में नियुक्ति का हाँ-ना हो ही जाएगा। उन्हें मेरी योग्यता और व्यक्तित्व में बड़ा विश्वास था। जब तीन रोज भी यही क्रम रहा तो चौथे रोज उन्होंने कहा—'ऐसे काम नहीं चलेगा। एक काम और करो। अर्जी लिख दो, मैं सरकारी शिक्षा-विभाग के दफ्तर जाता हूँ।' और मैं चौपासनी गया तो वे सरकारी दफ्तर में अर्जी दे आए।

मैं उनकी साइकिल ले जाता था, वे किसमें जाते? शिक्षा विभाग गए ताँगे में तो आठ आने खर्च हुए और कोर्ट आते-जाते थे ताँगे में तो उसमें भी आठ आना-दस आना रोज खर्च होते थे। सच्चा स्नेह था सो कभी एक क्षण के लिए भी चेहरे पर कोई ऐसा-वैसा भाव नहीं आया।

चेहरे पर तब भी नहीं आता था कोई ऐसा-वैसा भाव जब दाल-सब्जी में नमक या मिर्च-मसालों की कोई कमी होती। एक बार तो दाल अरहर की बनाई, मुझे बनानी ही नहीं आई और वह वैसी हो गई जिसे मेरी माँ कूचा-पानी कहा करती थी। कूचा-पानी दाल हो तो खाने में कुछ भी मज़ा नहीं आता है। मैं डर गया। लेकिन काकाजी की उदारता देखी। उनके चेहरे पर शान्ति और स्निग्धता का वही भाव रहा जो हर रोज रहता था।

एक दिन काकाजी के दो भाई पोकरण से आए और वे तीन दिन जोधपुर ही रहे। काकाजी ने पैसे दे कर कहा—'आम आने लगे हैं, कभी-कभी आम भी ले आया करो।' बाजार में जब-जब भी मैंने आम देखे थे, मेरे भी मन में आई थी, पर कैसे कहता कि आम लाएँ! मैं तो खुद मेहमान था, दो दिन के लिए आया था। अब खुद उन्होंने कहा तो मैं खुशी-खुशी दौड़ा गया और अच्छे महंगे आम लाया, हरी सब्जी भी लाया। बिना छिलके वाली मूँग दाल बनाई, घी का खास तड़का दिया। मेहमानों ने प्रशंसा की। जून का महीना था, पसीना तो खूब आया पर हम बाग-बाग हुए।

यों हमारे सात दिन निकले। सातवें दिन शाम खबर मिली कि आज इन्टरव्यू है। प्रधानाचार्य के कमरे में एक बड़े अधिकारी (शिक्षा विभाग में उपनिदेशक) भी आए हैं। एक दूसरे प्रधानाचार्य किसी दूसरी स्कूल से आए हैं। इनके समक्ष हम सब के काम की रिपोर्ट हमारे प्रधानाचार्य द्वारा रखी जाएगी। ये सब हमारा इण्टरव्यू लेंगे। तब फैसला होगा।

स्कूल की एक घण्टा पहले छुट्टी कर दी गई। हम सभी फुटबाल के मैदान में प्रतीक्षा के लिए बिठा दिए गए। छात्रों व अध्यापकों के परिचित तो हम हो ही चुके थे। वहाँ उनके साथ खेलने लग गए।

इन्टरव्यू की आवाज लगी। दौड़ कर पहुँचे। कोई दाएँ द्वार पहुँचा कोई बाएँ द्वार। हमने समझा एक-एक को बुलाया जाएगा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। सभी को एक साथ भीतर बुला लिया गया। दोनों दरवाजों पर खड़े हम लोग दोनों दरवाजों से भीतर प्रवेश कर गए और इन्टरव्यू कमेटी की बड़ी टेबल के सामने एक लाइन में खड़े हो गए। सुखदेव घुसा था बाएँ दरवाजे से सो वह लाइन के बाएँ सिरे पर खड़ा हुआ, मैं घुसा था दाएँ दरवाजे से सो मैं दाएँ सिरे पर खड़ा हुआ।

मैंने कहा था न, 'फैनाफैन' अजब-ग़ज़ब लोगों का विचित्र व्यवहार देखने को मिलेगा। सो मिला। सुखदेव का चयन हो गया। उसके बाद जो खड़ा था उसका भी, और उसके बाद, और उसके बाद, यों चार लोगों का चयन हो गया और तब घोषणा हो गई : 'रेस्ट वी डोण्ट वॉण्ट, बाकी लोग जाओ!'

हो गया फैसला। खेल खत्म। प्रधानाचार्य की रिपोर्ट धरी रह गई।

सुखदेव ने दूसरे रोज ही वहीं क्वार्टर में रहना शुरू कर दिया और वर्षों वहाँ पढ़ाया। मैंने अगले ही दिन से सरकारी दफ्तर के चक्कर लगाने शुरू किए और पूरे एक माह तक काकाजी वकील साहब के घर खाना बनाता रहा, मेहमानों की सेवा करता रहा और जब-तब तड़के वाली दाल के साथ अच्छे-अच्छे महंगे आम भी खाता रहा। एक माह बाद मुझे फलौदी के पास पैदल तीन कोस (नौ किमी.) जा कर लोर्डियाँ गाँव में पढ़ाने का आदेश प्राप्त हुआ। दोनों मित्रों ने जीवन भर शिक्षण किया, पदोन्नतियाँ पाए, सेवानिवृत्त हुए बीस साल पहले।

कैसा था हमारे 'फैनाफैन' अजब-ग़ज़ब लोगों के चयन-बोर्ड का यह थोथा-मोथा फैसला : रेस्ट वी डोण्ट वॉण्ट, बाकी लोग जाओ! खूब याद आता है।

शिक्षा का अधिकार कानून

शिक्षा का अधिकार कानून बन गया है और लागू हो गया है। कुछ ने इसे अधूरा कहा[1] और कुछ ने इसे एक ऐतिहासिक धोखा कहा।[2] कुछ ने कहा कि यह कानून भारत के सभी बच्चों को समान गुणवत्ता की शिक्षा देने की प्रतिबद्धता भी जाहिर नहीं करता... इसमें विद्यालय के स्वरूप पर—शिक्षाक्रम, शिक्षण-विधियों पर—सतही, भ्रामक, अधकचरा विचार हुआ है।[3] इस प्रकार जिन्होंने इस कानून की आलोचना की है वे हमें सावधान करते हैं। यदि हमें इस कानून को सफल बनाना है तो हमें इनके विचारों को ध्यान से सुनना है और उनके सुझावों पर भी पूरा ध्यान देना है।

इसमें कोई शक नहीं कि जिन्होंने आलोचना की है उन्होंने देश की शिक्षा के विकास में बहुत बड़ा योगदान दिया है। विकास तभी सम्भव है जब हम अपने हर कदम को आलोचनात्मक दृष्टि से भी बराबर देखते रहें, और इसे सफल बनाने के भी उपाय करते रहें। यह कानून हमारी कोशिशों के एक लम्बे सिलसिले के बाद बना है। एक लम्बी लोकतान्त्रिक प्रक्रिया ने इसे सम्भव बनाया है। दिसम्बर, 2001 में रामलीला मैदान, दिल्ली में देश भर के कोने-कोने से पचास हजार लोग इकट्ठा हुए थे बच्चों के लिए शिक्षा का यह अधिकार माँगने को, जिसमें बैजनाथ बैजू भी आया था झारखण्ड के गिरीडीह जिले से।[4] शिक्षा का अधिकार मंच, भोपाल द्वारा 9 अगस्त, 2009 को भारत छोड़ो दिवस पर गांधी भवन में एक जन सम्मेलन आयोजित किया गया था शिक्षा के मौलिक अधिकार के लिए, जिसमें डॉ. बी.डी. शर्मा (भारत जन आन्दोलन), डॉ. बनवारीलाल शर्मा (आजादी बचाओ आन्दोलन), शत्रुघ्नप्रसाद सिंह और केदारनाथ पाण्डेय (बिहार माध्यमिक शिक्षक संघ) सम्मिलित हुए, सांसद कल्याण जैन इन्दौर ने समाजवादी पार्टी की तरफ से तथा डॉ. शहीन अंसारी ने 'अखिल भारतीय शिक्षा अधिकार मंच' की तरफ से प्रतिनिधित्व किया और शिक्षा मंच, इन्दौर तथा शिक्षा अधिकार मंच, होशंगाबाद के कार्यकर्ताओं ने भी भाग लिया।[5] राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के पूर्व निदेशक प्रो. कृष्णकुमार के शब्दों में 'यह कानून शिक्षा के पटल पर चल रहे कई संघर्षों को राज्य की स्वीकृति मिलने का प्रतीक है।[6]

इसका निर्माण आसान नहीं था और इसका क्रियान्वयन भी आसान नहीं है। यदि हम इसके निर्माण में सफल हुए हैं तो इसके क्रियान्वयन में भी जरूर सफल होंगे। रास्ता कठिन है पर जरूरी है कि हम इसे सफल बनाएँ। कैसे सफल बना सकते हैं हम इसे? क्या कठिनाइयाँ हैं?

पहले तो हम यह समझें कि कितनी मुश्किलों से यहाँ तक पहुँचे हैं। शिक्षा को हमने बुनियादी अधिकार माना ही नहीं था। समवर्ती सूची के अनुसार राज्यों के खाते में डाल रखा था। देश भर में माँग उठी कि इसे बुनियादी अधिकार बनाया जाए। आकांक्षा थी कि पूरे देश की शिक्षा के स्वरूप में कोई ऐसा बदलाव हो जो शिक्षा के क्षेत्र में सामाजिक न्याय व समानता लाए, भेदभाव दूर करे, शिक्षा में गुणवत्ता के स्तर को समान रूप से ऊँचा उठाए। सभी को समान अवसर देना और स्तर भी समान रूप से ऊँचा उठाना आसान नहीं है। सार्वभौम शिक्षा के उद्देश्य को पूरा करते हुए कमजोर व वंचित परिवारों के बच्चों की शिक्षा का भी पूरा प्रबंध करना था। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 (संशोधित 1992) इस दिशा में पहला एक सुचिन्तित सुगठित कदम था। सुप्रीम कोर्ट ने 1993 में उन्नीकृष्णन प्रकरण में फैसला देते हुए स्पष्ट कर दिया था कि जीने के हक वाला अधिकार मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा के अधिकार बिना निरर्थक है। सुप्रीम कोर्ट ने इसीलिए 21 ए के साथ अनुच्छेद 45 को भी पढ़ने का निर्देश दिया।

शिक्षा को सार्वभौमिक, समतामूलक और गुणवत्तापूर्ण बनाने की भरपूर कोशिशों का सिलसिला कोठारी आयोग 1966 से ही शुरू हो गया था। उसी से उपजी अनेक आवश्यकताओं को समेकित करके वैधानिक स्वरूप दिया 1986 की राष्ट्रीय नीति (संशोधित 1992) ने। अब सुप्रीम कोर्ट के निर्देश 1993 से प्राप्त स्पष्टता की नींव पर खड़ा किया गया है 'शिक्षा का अधिकार' कानून 2008, जो 1 अप्रैल, 2010 से देश में लागू हो गया है।

आलोचक समूह के प्रमुख और प्रबुद्ध शिक्षाविद् प्रो. अनिल सद्गोपाल कहते हैं कि राजनीतिक चुनौती अनुच्छेद 45 के दायरे को व्यापक बनाने की है न कि उसे सीमित करने की।[7] उनका मत है कि अनुच्छेद 45 शासक वर्ग या सम्भ्रान्त तबके की मनमर्जी या शौक पर चलने वाला प्रावधान नहीं है बल्कि जीने के हक का सवाल है। लेकिन जैसा कि शिक्षामन्त्री ने 20 जुलाई, 2009 को राज्य सभा में कहा था, जब संसाधन नहीं हो तो सीमाएँ भी स्वीकार करनी ही होंगी।[8]

देश के कई नागरिक दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग के पूर्व अध्यक्ष व डीन प्रो. अनिल सद्गोपाल और भारत सरकार के पूर्व शिक्षा सचिव अनिल बोर्दिया की तरह चाहते हैं कि सरकार 16 की उम्र तक के सभी बच्चों को, पूर्व प्राथमिक शिक्षा सहित, मुफ्त समतामूलक गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मुहैया

कराए। बोर्दियाजी कहते हैं, 'आदर्श रूप में शिक्षा का अधिकार सभी उम्र के लोगों को मिलना चाहिए, जैसा कि दक्षिण अफ्रीकी गणतन्त्र के संविधान में मुहैया कराया गया है।... साधनों की तंगी की वजह से इसे बच्चों तक सीमित रखा गया है।'[9]

यदि हम सावधान नहीं रहे तो शिक्षा भी भेदभाव बढ़ाएगी और असमानता को जन्म देगी। पड़ोस के स्कूल का नाम तो यह कानून लेता है लेकिन असमानता दूर करने के लिए उस पर न पूरा ध्यान देता है और न बल देता है। धारा 3 (1) में मात्र इतना कह दिया, '6 से 14 साल के हर बच्चे को अपने पड़ोस के स्कूल में निःशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा को पूरा होने तक प्राप्त करने का अधिकार होगा।' और इसकी धारा 6 कहती है, 'पड़ोस की सीमा के भीतर जहाँ स्कूल नहीं है वहाँ... तीन साल की अवधि के भीतर स्कूल स्थापित करेगा।' इससे अधिक कुछ नहीं। यह नहीं कहा कि गरीब हो या अमीर, निर्धारित पड़ोस के क्षेत्र के हर बच्चे को उसी स्कूल में जाना होगा। संसद द्वारा पारित 1986 की शिक्षा नीति में यही माना गया था। लेकिन इस कानून ने विकल्प खुला रखा है। चार प्रकार की स्कूलें चलेंगी—1. सरकारी, 2. अनुदान प्राप्त, 3. विशेष श्रेणी : नवोदय, केन्द्रीय आदि और 4. अनुदान पाने वाले निजी स्कूल। ऊँची फीसें लेने वाली ऊँचे स्तर की निजी स्कूलें भी चलेंगी और कुछ कम फीसें लेकर मुनाफाखोरी करने वाली घटिया स्तर की स्कूलें भी चलेंगी। अनुदान प्राप्त निजी स्कूलें भी चलेंगी और ग़ैर अनुदानित भी चलेंगी। निष्ठापूर्वक आदर्श चरित्र व व्यक्तित्व वाले शिक्षकों वाली भी निजी व सरकारी होंगी और काम चलाऊ कमजोर शिक्षकों वाली निजी व सरकारी स्कूलें भी होंगी। सरकारी स्कूलों में से कई पुराने ढर्रे पर घटिया तरीके से ही चलें शायद। निगरानी का निर्देश तो है, पर्याप्त सुविधाएँ मुहैया कराने की गुंजाइश भी दिखाई है, किन्तु सरकारी स्कूलें कैसे चलती हैं, कैसे चलेंगी, भरोसा करना मुश्किल है। सरकारी हो या निजी, पड़ोस में समान रूप से सब के जाने की पाबंदी है नहीं तो भेदभाव तो रहेगा, सामाजिक विषमता भी पैदा होगी।

एक लेखक अंकलेसर अय्यर ने इस प्रसंग में शंका प्रकट करते हुए लिखा है कि सरकारी स्कूलों के शिक्षकों को न नियन्त्रित किया जा सकता है और न उन्हें निकाला ही जा सकता है। वेतन भी निजी स्कूलों के शिक्षक को जो मिलता है उससे सरकारी स्कूलों के शिक्षकों को तीन गुना, चार गुना या पाँच गुना भी मिलता है, पर सभी जानते हैं कि कौन कितना परिश्रम करता है और कितना बच्चों पर ध्यान देता है। अय्यर कहते हैं कि हार्वर्ड विश्वविद्यालय के एक अर्थशास्त्री आए और सर्वेक्षण किया तो पाया कि चौथाई शिक्षक अनुपस्थित थे, और चौथाई

उपस्थित थे तो पढ़ा ही नहीं रहे थे। यह नया कानून उन शिक्षकों को पाबन्द करने या उत्तरदायी बनाने के लिए कुछ भी नहीं करता है। शिक्षक संघों के भय से नेता लोग ऐसे निकम्मे शिक्षकों को राह पर लाने या बाहर का रास्ता दिखाने की हिम्मत नहीं कर सकते हैं। अय्यर कहते हैं कि यह कानून बच्चों को स्कूल लाने का अधिकार तो देता है लेकिन उन्हें शिक्षा पाने का अधिकार नहीं देता।[10] शिक्षा में विशेष रुचि रखने वाले एस. गिरिधर भी कहते हैं यह कानून स्कूल लाने की गारण्टी तो देता है किन्तु शिक्षा कैसे होगी, शिक्षा का स्तर कैसा रहेगा और बच्चों की उपलब्धियों की सूचना देने का क्या तरीका रहेगा, इस बारे में कोई मार्गदर्शन यह कानून नहीं देता।[11]

जाने-माने शिक्षाविद्, केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् के सदस्य, 'एकलव्य' भोपाल के संस्थापक सदस्य और भारत ज्ञान विज्ञान समिति के सचिव विनोद रैना इन आरोपों को ग़लत बताते हैं कि इस कानून में स्कूलों की गुणवत्ता बढ़ाने को कुछ नहीं है, या कि मुनाफाखोर निजी स्कूलों के अवांछित व्यवहारों को रोकने को कुछ नहीं है।[12] वे तो यहाँ तक कहते हैं कि, 'कोठारी आयोग की रिपोर्ट से भिन्न, यह विधेयक स्वायत्तता, अल्पसंख्यक और विशेष श्रेणी के स्कूलों को बाहर नहीं करता बल्कि... उन्हें एक पड़ोसी स्कूल की समानुपातिक जिम्मेदारी की परिधि में लाता है।... यह कानून तय गुणवत्ता के पड़ोसी स्कूल में पहुँच को अब प्रत्येक बच्चे के अधिकार के रूप में मान्य करता है।'[13]

गुणवत्ता का स्तर सुनिश्चित करने के लिए, कमजोर और वंचित परिवारों के बच्चों को निजी स्कूलों में भी 25 प्रतिशत तक स्थान दिलाने के लिए, हर बच्चे को मुफ्त (निःशुल्क) शिक्षा अनिवार्य रूप से उपलब्ध कराने के लिए, इस कानून को लागू करने की वित्तीय व्यवस्था करने के लिए, स्कूल प्रबन्धन में शिक्षकों के साथ महिलाओं व वंचित तथा कमजोर वर्गों का प्रतिनिधित्व रखने के लिए और अन्य जो-जो भी कहना आवश्यक समझ आया वह इस कानून में कह दिया गया है। जो भी कहा है वह आवश्यक और उपयोगी है। जो नहीं कहा जा सका है, समझ की कमी के कारण या लोकतान्त्रिक दबावों के प्रभाव में, उसे भी समझते रहना उपयोगी है। कमियों को समझते रहेंगे तो फिर कभी हम ऐसे दबाव बना सकेंगे जो इन कमियों को दूर कर सकें। अभी तो जो कुछ हुआ है वह कितने लम्बे समय के बाद और कितनी लम्बी कोशिशों के बाद सम्भव हुआ है, यही हम ध्यान में रखें और इसे सफल बनाने की कोशिश करें। जैसा कि बोर्दिया ने कहा है, 'संविधान में संशोधन कभी-कभार ही होते हैं... हमें इस अवसर का लाभ उठाते हुए अपने शिक्षा-तन्त्र को एक अर्थ देना चाहिए।'[14] निस्सन्देह न तो इससे असमानता दूर करने में वाँछित मदद मिलती है और न ही गुणवत्ता में सुधार

के किसी सघन उपाय का साधन नज़र आता है, फिर भी जो कुछ है वह भी एक अभूतपूर्व उपलब्धि है और उसका भरपूर लाभ उठाना हमारा कर्तव्य है।

पहला काम प्रवेश से शुरू होता है। प्रवेश देने से कोई इनकार नहीं कर सकेगा और न ही कोई बाधा उत्पन्न कर सकेगा। अन्तिम काम पास-फेल होता है। असफल होने पर भी कोई स्कूल से निकाल नहीं सकेगा। दिल्ली में एक निजी विद्यालय ने एक लड़की (सुमन भाटी) को कक्षा छह में अनुत्तीर्ण होने पर स्कूल से निकाल दिया था। उसके पिता ने इस कानून का सहारा लिया। हाईकोर्ट में रिट कर दी। हाईकोर्ट ने फैसला दिया कि नहीं निकाल सकते, वापस लो। वापस लेना पड़ा।[15]

सामाजिक असमानता दूर करने को तीन विशेष उल्लेखनीय धाराएँ हैं। एक तो पड़ोस, जहाँ विद्यालयों का अभाव है, वहाँ तीन साल में हर राज्य को विद्यालयों की स्थापना करनी ही होगी। दूसरे, निजी विद्यालयों को भी 25 प्रतिशत विद्यार्थी कमजोर व वंचित वर्गों से लेने ही होंगे। उनका व्यय सरकार देगी। तीसरी धारा यह कि सरकारी विद्यालयों में जो शिक्षा होगी वह निःशुल्क व अनिवार्य होगी।

आलोचक कहते हैं कि जहाँ मुफ्त कहना था वहाँ कानून में निःशुल्क कहा है। कानून में मुफ्त शब्द कहीं नहीं है। मुफ्त कहते तो पाठ्यपुस्तकें, पेन-पेन्सिल, ज्योमेट्री बॉक्स, बस्ते आदि की हर सुविधा सरकार की तरफ से होती। इसलिए कानून में 'मुफ्त' नहीं कहा, हालाँकि प्रधानमन्त्री मनमोहनसिंह के भाषण में 'मुफ्त' शब्द आया है। कहा है, 'सरकार यह तय करने के लिए प्रतिबद्ध है कि सभी बच्चों की शिक्षा तक पहुँच बने, चाहे उनका लिंग या सामाजिक श्रेणी जो भी हो।... शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने वाले संविधान के 86वें संशोधन को संसद ने 2002 में पारित किया था। बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का कानून भी पिछले साल संसद ने पारित किया। दोनों ही संविधान संशोधन और कानून, एक अप्रैल से वजूद में आ गए।[16] कई अखबारों ने भी इसे मुफ्त शिक्षा कहा। जिस अखबार से हमने ऊपर प्रधानमन्त्री को उद्धृत किया है उसी अखबार ने आगे लिखा है, बच्चों के लिए मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा कानून देश में निरक्षरता उन्मूलन एवं साक्षरता विकास की दिशा में एक सार्थक एवं परिवर्तनकामी कदम साबित होगा इसमें दो राय नहीं।[17] शिक्षामन्त्री कपिल सिब्बल ने दूरदृष्टि और अथक प्रयत्नों से इसे बनाया है, और कहा है, 'आने वाली पीढ़ियों के लिए यह एक ऐतिहासिक कदम है। हम इस मिथक को तोड़ना चाहते हैं कि सरकार गुणवत्तापरक शिक्षा नहीं दे सकती।'[18] हम भी कामना करते हैं कि सरकार का यह संकल्प पूरा हो। कई अड़चनें हैं, कई चुनौतियाँ हैं। अभी तो यही चुनौती थी कि शिक्षा बुनियादी

अधिकार हो और कानून बनकर लागू हो। अब कानून बना है तो इसे सफल बनाना है, अर्थात् सरकार को इतनी समर्थ बनाना है कि वह अपने विद्यालयों में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा दे सके। निजी विद्यालयों के स्तर पर भी निगरानी रखना एक भारी चुनौती है।

आदर्श स्थिति तो यह होती कि स्कूल का कोई निर्धारित पड़ोस होता, उस पड़ोस के छोटे-मोटे, गरीब-अमीर सभी लोगों के बच्चे उसी स्कूल में समान रूप से शिक्षा पाते और शिक्षा को सचमुच मुफ्त बनाने के लिए यूनीफॉर्म, कापियाँ-किताबें, बस्ता, सहायक सामग्री (जैसे ज्योमेट्री बॉक्स, डिक्शनरी, एटलस, पेन-पेन्सिल, रबर आदि) सब कुछ मुफ्त मिलता, कुछ भी बच्चों को व्यय नहीं करना पड़ता और न ही उनसे किसी तरह का कोई शुल्क (ट्यूशन फीस, विकास शुल्क, पुस्तकालय प्रयोगशाला शुल्क, खेलकूद शुल्क, आदि कोई भी) लिया जाता। कानून में ये प्रावधान सम्भव नहीं हुए।

दूसरी आदर्श स्थिति यह होती कि शिक्षक और शिक्षालय को समर्थ और स्वायत्त बनाने का भी कोई प्रावधान इस कानून में होता। वह भी सम्भव नहीं हुआ। एक कक्षा पर एक शिक्षक का प्रावधान तो न्यूनतम है, और एक कक्षा के लिए एक कमरा भी न्यूनतम है, पर वह भी सम्भव नहीं हुआ।

भवन, पुस्तकालय, प्रयोगशाला आदि सुविधाओं के जो प्रावधान इसमें किए गए हैं उन पर भी हम यदि यथोचित काम कर सकें तो गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की दिशा में जरूर कुछ आगे बढ़ सकेंगे।

शिक्षकों की उपस्थिति और सक्रियता के विषय में हमने हार्वर्ड विश्वविद्यालय के सर्वेक्षण का ऊपर उल्लेख किया है। शिक्षकों के पर्याप्त प्रबन्ध का निर्देश कानून में है किन्तु हमारे तन्त्र का यह दायित्व बनता है कि तत्परता दिखाएँ। अग्रिम तैयारी ऐसी की जाए कि एक भी शिक्षक की कमी कहीं न रहे, कभी न रहे।

यदि कोई शिक्षक लम्बी छुट्टी जाता है तो उसकी जगह एवजी (रिलीविंग) शिक्षक तैयार रखा जाए। इसका पर्याप्त समय रहते पक्का प्रबन्ध हो। ग़ैर शैक्षणिक कार्यों में से कुछ से यह कानून मुक्त करता है पर कुछ अभी भी शेष रहे हैं, उनका भी सामना करना है।

अब समस्या लें शिक्षकों के प्रशिक्षण की। राजस्थान में जो व्यवस्था पहले थी वह आदर्श व्यवस्था थी। प्रत्याशी शिक्षक ने विद्यालयों में पद के अनुरूप जो भी योग्यता प्राप्त कर ली उसके अनुसार वह नियुक्ति पा लेता था। सेवा-पूर्व प्रशिक्षण की अनिवार्यता नहीं थी। प्रधानाध्यापक और शिक्षाधिकारी उसका मार्गदर्शन करते और बारी आती तब उसे जे.टी.सी., एस.टी.सी. या बी.एड. का

प्रशिक्षण सरकारी खर्च पर पूरे वेतन के साथ कराया जाता था। गिनती के प्रशिक्षण विद्यालय-महाविद्यालय थे। प्रशिक्षण का कोई शुल्क शिक्षक को नहीं देना होता था। आज कुकुरमुत्तों की तरह सैकड़ों की संख्या में प्रशिक्षण महाविद्यालय खुल गए हैं। उनकी फीसें आसमान को छूती हैं। जिला प्रशिक्षण संस्थानों (डाइट) की भी हमने दुर्गति कर डाली है। अनवरत अभिनवन वहाँ होता था शिक्षकों का। आठवीं बोर्ड ने उनकी और भी हालत खस्ता कर दी है। असली काम वे भूल चुके।

इसका कारण राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् की तन्द्रा है। उसे सुझाना चाहिए था कि सेवापूर्व शिक्षक-प्रशिक्षण नहीं, सेवारत अनवरत अभिनवन चाहिए। उसे यह भी प्रस्तावित करना चाहिए था कि हम ढर्रा छोड़ें, नई दिशा में बढ़ें और शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालयों में अल्पावधि-दीर्घावधि व ग्रीष्मकालीन शिविरों, सेमिनारों या कार्यशालाओं का आयोजन करें, जहाँ कुछ शिक्षक बारी-बारी पूरे वेतन पर, तो कुछ शिक्षक किसी प्रोत्साहन राशि (इन्सेटिव या स्टाइपेण्ड) व आकर्षक जलवायु, वातावरण तथा नए ज्ञान के आकर्षण से स्वेच्छापूर्वक आ कर शिक्षा-साहित्य या शिक्षण-विधियों का गहन अध्ययन करेंगे। परिषद् को ही डाइटों की हालत सुधारने पर भी ध्यान देना चाहिए था। रोहित सही कहते हैं कि 'हमारे यहाँ शैक्षिक चिन्तन का अकाल भयावह है।... औपचारिक प्रमाण-पत्रों से सामर्थ्य विकसित नहीं होता...हमें शाला और शिक्षक की संकल्पना पर गम्भीरता से विचार करना होगा।'[19]

समस्या तो विचार की ही है। एक ही कक्षा में कई स्तरों की योग्यता वाले बच्चे होते हैं। अब तो और भी अधिक समस्या आएगी। फेल आप कर नहीं सकते, प्रत्येक बच्चे पर अलग से पूरा ध्यान देने की हमारी आदत नहीं है। हैदराबाद में बहुकक्षीय समूह बना कर पढ़ाने की भी प्रथा है।[20] घबराने से काम नहीं चलेगा। रास्ते निकालने होंगे, विधियाँ-प्रविधियाँ बदलनी होंगी, गुणवत्ता लाने का उपाय हमें ही करना होगा। सतत मूल्यांकन या आकलन की विधि खुद ही विकसित करनी होगी। उसका परिणाम बच्चों को न बता कर केवल अभिभावकों को ही बताना भी एक विधि है। कोई भी बच्चा कदापि कमजोर न रहे यह शिक्षकों की जिम्मेदारी है। न तो शिक्षक को और न शिक्षाधिकारी को थानेदार बनना है। परस्पर समझ और सहयोग से काम करेंगे तभी बच्चों में आत्मविश्वास पैदा होगा और शिक्षक भी सामर्थ्य व स्वायत्तता की तरफ बढ़ सकेगा।

परीक्षाएँ नहीं हैं तो काम जितना आसान हुआ है उतना ही कठिन भी हुआ है। हमारी जिम्मेदारी बढ़ी है। हम शिक्षक हों चाहे शिक्षक-प्रशिक्षक या शिक्षाधिकारी, हम अभिभावक हों चाहें मन्त्री, नेता या जनप्रतिनिधि, यह तो लगातार सोचना ही

होगा कि शिक्षा के बारे में हम जानते क्या हैं, हमें जानना क्या है, और जानने के लिए हमने किया क्या है? ऐसा किए बिना न तो शैक्षिक चेतना का अकाल दूर होगा और न हमारा नया कानून सफल होगा।

सन्दर्भ

1. अनिल बोर्दिया, शिक्षा का अधूरा अधिकार, दैनिक जनसत्ता, 12 मार्च, 2002, पृ. 7
2. प्रो. अनिल सद्गोपाल, शिक्षा का अधिकार कानून, शिक्षा-विमर्श, नवम्बर-दिसम्बर, 2009, पृ. 49
3. रोहित धनकर, सम्पादकीय शिक्षा-विमर्श, नवम्बर-दिसम्बर, 2009, पृ. 3-4
4. आउटलुक (अंग्रेजी), 10 दिसम्बर, 2001, पृ. 66
5. स्कूल टू डे (भोपाल), जुलाई-अगस्त, 2009, पृ. 35
6. प्रो. कृष्णकुमार से लतिका गुप्ता की बातचीत, शि.वि. नवम्बर-दिसम्बर, 2009, पृ. 17
7. प्रो. अनिल सद्गोपाल, दैनिक जनसत्ता, 6 दिसम्बर, 95, पृ. 4
8. दैनिक हिन्दुस्तान, 31-07-2009, पृ. 12
9. अनिल बोर्दिया, पूर्वोक्त
10. स्वामीनाथन अंकलेसर अय्यर, टाइम्स ऑफ इण्डिया, 11 अक्टूबर, 2009, पृ. 14, स्तम्भ 'स्वामी-नोमिक्स' में।
11. एस. गिरिधर, अजीम प्रेमजी फाउण्डेशन, द हिन्दू-सण्डे मेगजीन, 22 नवम्बर, 2009, पृ. 4
12. विनोद रैना, 'शिक्षा का अधिकार कानून' : कोठारी आयोग के समान स्कूल के सिद्धान्त से तुलना, शि.वि., नवम्बर-दिसम्बर, 2009, पृ. 8
13. वही पृ. 12-13
14. अनिल बोर्दिया, पूर्वोक्त
15. टाइम्स ऑफ इण्डिया, 6 मई, 2010, पृ. 9
16. मनमोहनसिंह (प्रधानमन्त्री), 'साक्षरता संवाद' (ने.बु. ट्रस्ट), अप्रैल, 2010
17. कपिल सिब्बल (शिक्षामन्त्री) वही।
18. वही।
19. रोहित धनकर, पूर्वोक्त पृ. 7
20. प्रो. ए.के. जलालुद्दीन, शैक्षिक सुधारों की दिशा में एक पहल, शि.वि., नवम्बर-दिसम्बर, 2009, पृ. 44

हम नाराज़—हम नाराज़

संयम और साधना ये दो शब्द आजकल चलन में कम हैं। पुराणपंथी कहो या रूढ़िवादी कहो, जब भी कोई व्यक्ति इन्हें प्रयोग में लाता है तो लगता है कि जाने किस युग में जी रहा है यह शख्स! लेकिन आजकल विद्यालयों में जो हम देख रहे हैं उन्हें रोकने का उपाय भी ये दो शब्द ही हैं। ये शब्द चलन से इस कारण हटे थे कि सन्दर्भ से दूर इनका अनावश्यक प्रयोग बहुत हुआ। अनावश्यक प्रयोग न हो और सन्दर्भ से दूर न जाएँ तो आज भी ये दोनों शब्द बहुत उपयोगी हैं।

सन्दर्भ देखें। दिल्ली के एक स्कूल में एक अध्यापक सात वर्ष की एक बच्ची को अपने तमाम कपड़े उतार कर मात्र चड्डी में बेंच पर खड़ी कर देता है। उसका दोष यह है कि वह होमवर्क करके नहीं लाई। न केवल निर्वस्त्र होने व बेंच पर खड़े होने का ही वह उसे दण्ड देता है बल्कि कक्षा के अन्य सभी छात्र-छात्राओं को कहता है—ताली बजाओ। यह है शिक्षक की समझ। वह गिरफ्तार होता है और जेल जाता है।

एक परीक्षा भवन में किसी छात्रा ने अपना पाँव डेस्क के नीचे न डालकर बाहर लम्बा कर दिया और उसकी शामत आ गई। उसे वह सजा मिली कि वह ऊपर पहुँच गई। सजा देने वाली अध्यापिका का भी अब क्या जीवन है! बच्ची का जीवन गया, अध्यापिका जीवन भर समाज की नज़रों में अभिशप्त रहने को विवश या उम्र कैद, या फाँसी। यह घटना उदयपुर, राजस्थान की थी।

हम शिक्षक हैं हमारे पास ऐसी स्थितियों के लिए क्या जवाब है? क्या हमें संयम की साधना नहीं करनी चाहिए? संयम की कमी होती है तभी ये घटनाएँ घटित होती हैं जो मात्र दुर्घटनाएँ ही नहीं होती, भीषण त्रासदियाँ हो जाती हैं।

हम नाराज़—हम नाराज़—होम वर्क नहीं किया, हम नाराज़। बार-बार समझाया फिर भी समझ नहीं आया, हम नाराज़। पाठ पढ़ने को कहा और उसे ग़लत पढ़ा, हम नाराज़। त्रुटियाँ वर्तनी की सुधारी-समझाई पर कोई प्रभाव नहीं, हम नाराज़। खिड़की के बाहर देखा, हम नाराज़। हम पढ़ा रहे हैं या बोर्ड पर कुछ लिख रहे हैं और बच्चों ने बात की, हम नाराज़। कक्षा के भीतर या बाहर, मैदान

में या गली मोहल्ले में बदमाशी की, हम नाराज़। रबर-पेन्सिल चुरा ली, या नहीं चुराई पर नाम आ गया, हम नाराज़। याद करें। हम कितना नाराज़ होते हैं ऐसे अवसरों पर? यह भी याद करो कि असली गुस्सा आया था कि नकली गुस्सा लाकर धमकाने मात्र के लिए ऊपर-ऊपर से ही नाराज़ हुए थे? कितने वेग से हुए थे? कितने आवेश में आए थे? याद करें और सोचें कि हमारे गुस्से ने किस बच्चे का कितना नुकसान किया?

शिक्षक कई तरह के होते हैं। कोई बच्चों से पान-सिगरेट या चाय मँगवाता है, कोई घर का काम कराता है। एक शिक्षक थे, वे गाँव के बाहर खेजड़ी के पेड़ पर बच्चे को चढ़ा कर अपनी बकरी के लिए खेजड़ी के पत्ते और खुद के लिए पेड़ की साँगरियाँ (फलियाँ) तुड़वाया करते थे। एक दिन वह बच्चा गिर गया, हाथ टूट गया। सोचो, शिक्षक का गाँव-समाज में प्रतिष्ठा का स्तर उठा कि गिरा? माँ-बाप और शिक्षक स्वयं को कम आन्तरिक पीड़ा नहीं हुई होगी?

जो पढ़ाता है वह जानता है कि शिक्षक को गुस्सा कब आता है। या तो बच्चे को निष्ठापूर्वक अच्छा पढ़ाने की इच्छा से शिक्षक को गुस्सा आता है या जो शिक्षक आपे में नहीं रहता, स्वयं पर नियन्त्रण नहीं रखता—वह आवेश में आ जाता है। यह दूसरा आवेश अनचाहा आवेग होता है। इसे मूर्खता के अलावा और क्या कहेंगे?

तप का दूसरा नाम—घरेलू काम करना भी एक ओर तो गुरु-शिष्य सम्बन्धों की स्वाभाविक उपज होता है और दूसरी ओर लोभी-लालची मूर्ख शिक्षकों के विकृत व्यवहार का फल भी होता है। समस्या तब पैदा होती है जब बच्चे का कोई नुकसान होता है और शिक्षक आरोपों से घिर जाता है। साधना का फल तभी काम आता है। उसकी जरूरत तभी पड़ती है। साधना का मतलब है—तप। तप का दूसरा नाम है—गहरी कोशिश। गहरी कोशिश अपने पर नियन्त्रण बिना सम्भव नहीं है। गहरी कोशिश के बिना समझ का विकास भी सम्भव नहीं। हमने कितने ही शिक्षा-शास्त्र पढ़े हों, उपदेश सुने हों, किन्तु उन पर आचरण हम नहीं करेंगे तो ढाक के पात वही रहेंगे। कोई फर्क नहीं आएगा हमारे वेग, आवेग या स्वभाव में।

कुछ असर हमारे अपने शिक्षकों का भी पड़ता है। वे जो दण्ड देते थे, जिस तरीके से देते थे, वही या वैसा ही देने की हमारी भी सहजवृत्ति बन जाती है। आदत पड़ जाती है। उसे रोकना भी जरूरी है।

हम आपा नहीं खोएँ। कोशिश कर के संयम लाएँ। कोशिश करके संयम को तब लाना पड़ता है जब वह स्वभाव में न हो। स्वभाव में हो तो कोई समस्या नहीं।

स्वभाव में नहीं है तो कोशिश करके लाना होगा। कोशिश भी गहरी करनी होगी और इतनी सजग रूप से निरन्तर करनी होगी कि संयम हमारे स्वभाव का अंग बन जाए।

शिक्षक सब जानता है। मनोविज्ञान जानता है, समाजशास्त्र जानता है और व्यक्तित्व निर्माण के सभी सिद्धान्त भी जानता है। लेकिन साधना की कमी के कारण कोई क्षण ऐसा आता है जब दुर्घटनाएँ घट जाती हैं। तब करने को कहें तो लोग कहेंगे जमाना गया, किन्तु गहरी कोशिश करने को कहें तो? तो कोई क्या कहेगा, कुछ भी नहीं। और कहे भी तो हमें क्या? हमें तो पता है न कि हम क्या कर रहे हैं। हमें पता हो, यही जागरूकता है। जागरूक रहेंगे तो जरूरी कोशिश करेंगे। हो सकता है साधना भी कर लें, तप भी कर लें और संयम भी रख लें।

इसी में शिक्षक का भला है, समाज का भी भला है।

शिक्षा और विज्ञान ग्राम-विकास के लिए

विज्ञान शिक्षण से गाँव वालों को कितना लाभ होता है? शायद यह प्रश्न विज्ञान वालों के सोचने का नहीं है। विज्ञान वाले धनी परिवारों की सन्तान होते हैं। उनको गाँव वालों की चिन्ता क्यों हो? जो विज्ञान-प्रदर्शनियाँ विज्ञान के विद्यार्थियों द्वारा तथा विज्ञान शिक्षकों की सहायता से, और राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान व प्रशिक्षण परिषद् की प्रेरणा से आयोजित होती हैं, उनमें विज्ञान और ग्राम-विकास के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाली कोई वस्तु शायद ही कभी प्रदर्शित होती हो। जिनकी चर्चा व चित्र पत्र-पत्रिकाओं में आते हैं वे होते हैं अन्तरिक्ष में आर्यभट्ट, समुद्र की लहरों से बिजली या स्वतः निर्मित रोटी यन्त्र आदि। ग्रामवासियों की समस्याओं से इनका किसी का भी नाम का भी सम्बन्ध नहीं होता है। केवल एक शब्द 'रोटी' का सम्बन्ध जरूर ग्रामवासियों से होता है किन्तु रोटी स्वतः निर्मित हो तो उन्हें क्या मिलेगा? अनाज और आटा हो तो रोटी बनाना भी क्या कोई बोझ है? फिर क्यों कष्ट किया हमारे वैज्ञानिकों ने यह प्रदर्शन करके? अन्तरिक्ष और समुद्र की लहरों से बिजली के उत्पादन की प्रक्रिया से ग्रामवासी आश्चर्यचकित भले हों, लाभान्वित होने की कोई आशा तो प्राप्त नहीं कर सकते। और आश्चर्यचकित होना, जो साधारणतया कुतूहल व मनोरंजन के कारण लाभदायक माना जाता है, गरीब ग्रामवासियों के लिए अत्यन्त हानिकारक है। वह यों कि जब वे विज्ञान की वस्तु को देख कर अचम्भित होते हैं तो विज्ञान का अर्थ अचम्भित होना ही लगा सकते हैं, उपयोगिता नहीं। मात्र अचम्भा पैदा करने के कारण विज्ञान उनके लिए रहस्यमय पहेली मात्र ही रह जाता है। मनोरंजन के कारण सुख देने का आवरण होता है, लेकिन भीतर कहीं गहरे में पीड़ा और भय पैदा करता है। पीड़ा लाभ न पाने के कारण, और भय रहस्य के आतंक की उपस्थिति के कारण। प्रो. दभोलकर का मानना है कि वे विज्ञान की इस रहस्यमयता को दूर करने के प्रयत्नों में जुटे हैं। प्रो. पावलो फ्रेरे उनके इस भाव की प्रशंसा करते हैं और बताते हैं कि इसी काम को वे किस प्रकार करते हैं। दोनों का लक्ष्य एक ही लगता है, कार्य-विधि भी वैज्ञानिक है, फिर भी काफी बड़ा अन्तर है दोनों के कार्य के स्वरूप और प्रभाव में।

दभोलकर और फ्रेरे का यह ऐतिहासिक मिलन 1979 की एक संगोष्ठी में पश्चिमी जर्मनी में हुआ था। पश्चिमी जर्मनी के एक अन्तरराष्ट्रीय संस्थान ने विट्ज़ेनहौसेन में 'ग्राम विकास के लिए विज्ञान' विषय पर यह संगोष्ठी आयोजित की थी। प्रो. श्रीपाद अच्युत दभोलकर पुणे विश्वविद्यालय के कुलपति हैं और देश के ऊँचे दर्जे के वैज्ञानिक हैं। खास तौर से ग्रामवासियों के हित के लिए विज्ञान की सेवाओं के उपयोग में विशेष रुचि लेते हैं। पावलो फ्रेरे ज्ञान-विज्ञान को शोषितों-पीड़ितों की सेवा में लगाने की आवश्यकता पर वर्षों से जोर दे रहे हैं। पहले आपका कार्यक्षेत्र ब्राजील था। ब्राजील के किसानों में काम किया, जेल गए और निर्वासित हुए। अब जिनेवा की 'वर्ल्ड कौन्सिल ऑव चर्चेज' में शिक्षा विभाग के निदेशक हैं और आजकल आपका कार्यक्षेत्र पूरा विश्व है। विट्ज़ेनहौसेन की इस संगोष्ठी में आपको एक मार्गदर्शक और मुख्य अतिथि के रूप में बुलाया गया था।

शिक्षण सिद्धान्तों से बचो

इस संगोष्ठी के आयोजकों में से एक ने कहा—'दो-ढाई वर्ष पहले हमारे एक कोर्स के मूल्यांकन के वक्त मेरे एक सहयोगी ने टिप्पणी की थी—'शिक्षण सिद्धान्तों से बचने की कोशिश करो'—यह सुन कर मुझको एक बहुत बड़ा धक्का लगा। सोचने की चीज है, हम गाँवों में ज्ञान प्रसार की समस्याओं (रूरल एक्सटेंशन प्रोब्लम्ज़) पर पाठ्यक्रम चला रहे थे। उसमें हम कुछ शिक्षा सिद्धान्त की बातें भी सम्मिलित करते थे, यही सिद्धान्त कि ज्ञान के प्रसार में अमुक-अमुक शिक्षा सिद्धान्त उपयोगी होते हैं—और जवाब में हमारा ही परीक्षार्थी मूल्यांकन के दौरान हमें सिखाता है 'शिक्षा सिद्धान्त मत सिखाओ'। उसके इस कथन का वास्तव में हम पर गहरा प्रभाव हुआ, हमारे व्यावसायिक कार्य पर प्रभाव हुआ, हमारे इस निर्णय पर प्रभाव हुआ कि प्रशिक्षण के वक्त हम किस बात पर विशेष बल दें। अपने कुछ अन्य साथियों से भी हमने हमारे पाठ्यक्रमों की वैज्ञानिक पद्धति की विस्तार से चर्चा की और पाया कि दैनन्दिन जीवन में विज्ञान से सम्बन्धित कई अन्तर्विरोधी बातें मौजूद हैं। अन्य विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों से भी चर्चा की। सभी ने यह माना कि विज्ञान के जिस स्वरूप को हम लागू करना चाहते हैं, प्राप्त करना चाहते हैं, अपनाना चाहते हैं, उसमें अनेक त्रुटियाँ और खामियाँ हैं। एक साथी ने अपनी निजी परिस्थितियों का हाल बताते हुए एक दिन कहा—'मैं क्या करूँ? मैं मेरे विज्ञान को बेच तो नहीं सकता।' विज्ञान सम्बन्धी समस्या को स्पष्ट करने की जरूरत को हमने बहुत गहराई से महसूस किया। लगा कि बाहर से परामर्श लेना चाहिए।' और पावलो फ्रेरे से बड़ा और कौन परामर्शदाता हो सकता था इस क्षेत्र में। और भारत से बड़ा और कौन देश हो सकता था इस क्षेत्र की समस्याओं से समृद्ध। दभोलकर और फ्रेरे दोनों ने समस्याएँ रखीं, दोनों ने उनके हल अपने-

अपने दृष्टिकोण से रखे। आयोजकों की अपेक्षा थी कि निजी अनुभवों पर आधारित दृष्टिकोण प्रस्तुत हों। दोनों ने निजी अनुभवों पर आधारित दृष्टिकोण प्रस्तुत किए।

भूख का मिथक

संगोष्ठी का प्रारम्भ प्रो. दभोलकर के विषय प्रवर्तक भाषण से हुआ। उन्होंने इस भाषण में बताया कि अपनी संस्था के आसपास रहने वाले लोगों के बीच 20 वर्ष तक काम करते हुए उन्होंने दैनन्दिन जीवन के महत्त्व की कई उपयोगी बातें सीखी हैं। धीरे-धीरे उन्होंने जान लिया कि वैज्ञानिक संचार के क्षेत्र में विकल्प के रूप में एक ऐसा मॉडल भी बन सकता है जो परम्परित तन्त्र से भिन्न हो (नॉन सिस्टम मॉडल हो) और जो विज्ञान के सिद्धान्तों को ग्राम्य क्षेत्रों के लोगों तक ले जा सके। 'जब मैं गणित का एक प्रोफेसर मात्र था तभी मैंने निर्णय कर लिया था कि मैं खेत पर काम करने वाले अन्तिम व्यक्ति के साथ रहूँगा, हम प्रायः उसे सामान्यतया किसान या पूँजीनिवेश के अलाभकारी स्तर पर का आदमी कहते हैं। उन दिनों मैं मन-ही-मन सोचा करता था कि मुझे कोई ऐसा हल ढूँढ़ना है जो अन्तिम व्यक्ति को उसके वास्तविक जीवन में सहायक हो सके। मैंने कई विकल्पात्मक डिजाइनों पर काम किया और धीरे-धीरे मुझे महसूस होने लगा कि विज्ञान पर से रहस्य का पर्दा हटा दिया जाए तो हम पास-पड़ोस में ऐसा पर्यावरण-निर्माण कर सकते हैं जो मानव समाज का नक्शा बदल दे और सम्भव है भूख का मिथक ही समाप्त कर दे।'

भूख के मिथक को दूर करने वाली कई योजनाओं से प्रो. दभोलकर जुड़े रहे हैं। कभी हरित क्रान्ति और कभी श्वेत क्रान्ति। हरित क्रान्ति और श्वेत क्रान्ति की योजनाओं को सरकारी तन्त्र जिस ढंग से लागू करना चाहता था उसके विपरीत सिरे पर उन्होंने अपने आपको खड़ा पाया। सरकार को मुर्गियों का जो दाना बेचना था उसी को केन्द्र बना कर वे अपने मुर्गी-पालन कार्यक्रम को गाँवों में चलाया करते थे। गाँव वालों से कहते—'यही दाना लोगे तो अच्छा फल मिलेगा।' बेचारों को कीमती दाना खरीदने के लिए विवश होना पड़ता। प्रो. दभोलकर ने, तब वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित कई भिन्न-भिन्न मॉडल बनाने शुरू किए जिनका वे पास-पड़ोस के गाँवों में प्रयोग किया करते थे। 'मैं अपने आपसे पूछता—मुर्गी के दाने में क्या कोई चीज ऐसी है जो बिल्कुल पास ही यहाँ उपलब्ध हो, और जिसको लूँ तो मुझे अपनी मुर्गियों को पालने के लिए बाजार के दाने पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा? मैंने पाया कि जो दाना मुर्गी को खिलाना जरूरी होता है उसमें कुछ अच्छा प्रोटीन, कुछ कार्बोहाइड्रेट, थोड़ा तेलिया तत्त्व, थोड़ा कैल्शियम और थोड़ा फास्फोरस होता है जो मुर्गियों को उनकी क्षमतानुसार अण्डे देने में सहायक होते

हैं। अपने आस-पास नज़र डाली तो देखा कि गाँवों के अधिकांश बगीचों में पपीते के पेड़ होते थे। प्रत्येक पेड़ पर 60 से 80 तक फल लगते थे। सब नहीं खपते थे। जो नहीं खपते थे उन्हें मुर्गियाँ बड़े चाव से खाती थीं। पोषक तत्त्वों की तुलनात्मक सारिणी बनाकर देखा। ज्ञात हुआ कि पपीते का फल पूरा का पूरा (बीज समेत) उन खनिजों व पौष्टिक तत्त्वों से युक्त होता है जो अण्डा देने में सहायक होते हैं। पाश्चात्य नस्ल ही नहीं स्थानीय नस्ल की मुर्गियों को भी यह बराबर लाभकारी होता था। और ऐसा खाद्य तो गाँव के किसी भी घर में बिना किसी कठिनाई के पैदा किया जा सकता है। जीवन की वास्तविक स्थिति में विज्ञान के विरहस्यीकरण (डीमिस्टिफिकेशन) का यह एक उदाहरण है जो ग्राम्यजन की क्षमता के अनुकूल चलता है, जो उसमें यह विश्वास पैदा करता है कि वह अपनी मुर्गियों की खाद्य-सामग्री अपनी साधन-सीमा के भीतर और बिना कोई पैसा व्यय किए खुद प्राप्त कर सकता है। बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि सुरक्षित दाने के रूप में हम जमीकन्द को काम में ले सकते हैं। भारत में मानसून के दिनों में जमीकन्द की फसल अच्छी होती है। हम इसे साल भर तक रख सकते हैं। इसमें स्टार्च, कैल्शियम और फास्फोरस तो होता है, थोड़ा प्रोटीन मिलाने की आवश्यकता और रहती है। मैंने पाया कि यह आवश्यकता खुद मुर्गियों की बीटों से पूरी हो सकती है जिसमें थोड़ी हरी पत्तियाँ और थोड़ा मछली का चूरा मिला कर कीड़े (लार्वा) पैदा किए जा सकते हैं। कीड़ों का यह प्रोटीन जमीकन्द के साथ मिलाने से मुर्गियों का सर्वगुणसम्पन्न चारा तैयार हो जाता है। जमीकन्द की जगह शहतूत के पत्ते भी काम में लिए जा सकते हैं। इससे मैंने यह जाना कि मुर्गियों के लिए सर्वगुणसम्पन्न वैकल्पिक खाद्य पदार्थ प्राप्त हो सकता है यदि हम केवल अण्डों के उत्पादन पर ही ध्यान देना छोड़कर खाद्य पदार्थ के मूल में काम कर रहे वैज्ञानिक सिद्धान्तों का भी विश्लेषण करें। यह वैकल्पिक खाद्य पास-पड़ोस के पर्यावरण पर निर्भर था, इसमें विरहस्यीकृत विज्ञान का प्रयोग उस समस्या को हल करने में हुआ था, जो सामने थी।'

इसी तरह के और भी कई उदाहरण प्रो. दभोलकर ने दिए जैसे गायों को दिए जाने वाले खाद्य के, बकरियों के खाद्य के आदि, और बताया कि अपने ही भीतर से, अपने ही नीचे से, सुषुप्त साधन-शक्ति का लाभ लिया जा सकता है और पर-निर्भरता दूर हो सकती है। लहसुन, अदरक, इलायची, हलदी, नागरबेल का पान और सेंजने की फली के महत्त्व व स्थानीय उपयोगिता पर भी आपने प्रकाश डाला। फिर यह बताया कि इन प्रयोगों का लाभ होते देख कर ग्रामवासी आ-आ कर समझने लगे और इनके निष्कर्षों का लाभ लेने लगे। कइयों ने लाभ लिया। सिलसिला बढ़ता गया। एक बौद्धिक क्रान्ति हुई। ग्रामवासियों की सेवा में यह दिमाग लगे तो कई वैकल्पिक डिजाइनें बन सकती हैं, अनेक नवीन उद्भावनाएँ

जन्म ले सकती हैं। प्रतिभा विशेषज्ञता और वैज्ञानिक सिद्धान्त, जो भी समुदाय में आस-पास उपलब्ध हैं उनका समुदाय में आस-पास के जीवन की यथार्थ स्थितियों में रोजमर्रा की जरूरतें पूरा करने में उपयोग किया जा सकता है। आम आदमी इन वैज्ञानिक सिद्धान्तों को ज्यों-ज्यों समझता है त्यों-त्यों उसको अनुभव होता है कि उसकी क्षमता में वृद्धि होती जा रही है। दभोलकर कहते हैं कि जीवन की यथार्थ स्थिति में वैज्ञानिक सिद्धान्तों के योग से साहस का जन्म होता है। समाज के बौद्धिक समूह आम जन से जुड़ते हैं। श्री दभोलकर ने एक बार एक सौ ऐसे साधारण किसानों को इकट्ठा करके अंगूर पैदा करने वाला दल बनाया। कई क्रान्तिकारी विधियों पर प्रयोग हुए। एक-दूसरे से सीखे। आगे बढ़े। आज वे भारत के अग्रणी अंगूर उत्पादक हैं। जब प्रो. दभोलकर का जर्मनी जाने का समाचार इन्होंने सुना तो ये उनसे बोले कि लाफेन में अच्छे अँगूर उत्पादक हैं, उनसे जरूर मिलना। अब ये जो निम्नतम आदमी थे खेती के मायने में, वे ही आज उनसे कह रहे थे कि जर्मनी में उनसे मिलना और कैलिफोर्निया में उनसे मिलना। वे अपना ज्ञान न केवल अपने बीच परस्पर ले-दे रहे थे बल्कि विश्व के अन्य भागों से भी ज्ञान के वैसे ही पारस्परिक आदान-प्रदान का सम्बन्ध कायम करने को उत्सुक थे।

श्री फ्रेरे ने पूरे समय तक ध्यान से दभोलकर को सुना और बोले—'देखिए, यूरोप में नौ साल और अमेरिका में एक साल रहने के बावजूद भी मैं हूँ तो ब्राजीलवासी ही और इसलिए मैं इधर से देखूँ तो कोई अर्थ निकलने वाला है नहीं। श्री दभोलकर ने जो कुछ कहा है उससे मैं बहुत आकर्षित हुआ हूँ, और मेरा विचार है कि इसमें इतनी प्रचुर मात्रा में अर्थ—सबसे ऊपर राजनीतिक अर्थ—समाविष्ट हैं कि उन पर चर्चा जरूर होनी चाहिए।'

चर्चा आरम्भ हुई। कुछ शंकाएँ रखी गईं जिनका उत्तर देते हुए श्री दभोलकर ने कहा—'मैं तो संक्षेप में पुनः इतना ही कहना चाहूँगा कि हमारा यह सारा कार्य ग़ैर व्यावसायिक भावना (नान-प्रोफेशॅनलिज्म) के साथ सम्पन्न हुआ है। गणित के शिक्षक के रूप में मैं कई क्षेत्रों में कार्य करता हूँ। ऐसा ही मेरे अन्य साथी करते हैं। समाज में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जिनमें बुद्धि है और जो सामान्य जन तक जाने को उत्सुक हैं। उनमें इतना 'आई क्यू' (बुद्धि-लब्धि) जरूर है कि वे किसी भी समस्या को हल कर सकें, हालाँकि न वे कभी स्कूल गए हैं और न उन्होंने कोई व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त किया है।'

पावलो फ्रेरे

उनकी इस सफाई से शंकाएँ घटने की बजाय बढ़ीं और काफी गरमाहट आ गई। जर्मन प्रतिनिधियों ने कई तरह के विचार रखे। पावलो फ्रेरे ने भी अपना विचार

रखा। उन्होंने कहा—'विज्ञान पर से रहस्य का आवरण हटाने की बात एक ऐसी चीज है जिसमें मेरी बहुत गहरी रुचि रहती है। लेकिन जब मैं विज्ञान पर से रहस्य का आवरण हटाने की बात करता हूँ तो बहुत गम्भीरता से करता हूँ—विज्ञान के प्रति असम्मान की भावना से नहीं, विज्ञान को कम करने के लिए नहीं, उलटे इसके विपरीत मैं विज्ञान को उसी रूप में लेता हूँ जिस रूप में वह है, उसे कोई मिथक मान कर नहीं चलता। इस कारण 'विज्ञान का विरहस्यीकरण' मुहावरा ठीक है। विश्वास है आपका भी यही आशय है। और मेरा खयाल है कि हम सब के लिए—हम चाहे वैज्ञानिक हों या दार्शनिक, शिक्षाशास्त्री हों या कृषिशास्त्री, लोगों के बीच काम करने वाले हों या लोगों के बीच काम करने का सपना देखने वाले, हम सब के लिए विज्ञान व तक्नोलजी का अर्थ स्पष्ट होना बहुत जरूरी है। और छोटे-छोटे किसानों के बीच भी विज्ञान की चर्चा पूर्ण गम्भीरता के साथ करना नितान्त आवश्यक है। किसानों को पहला बिन्दु यह जानना है कि जो लोग वैज्ञानिक हैं वे आसमान से उतरे हुए कोई रहस्यलोक के प्राणी नहीं हैं, कोई ऐसे व्यक्ति नहीं हैं जिनके भाग्य में वैज्ञानिक बनना जन्म से ही तय था या जो अन्यों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ किस्म के प्राणी हैं। नहीं, नहीं, नहीं। पुरुष हों चाहे महिलाएँ, वैज्ञानिकगण उत्पन्न होते हैं तो समाज की उत्पादन शक्ति के अनुसार और सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक सम्भावनाओं के भी अनुरूप। वे भगवान की देन बन कर, जो वैज्ञानिक नहीं बन पाते हैं उनसे भिन्न रहने के लिए, दुनिया में नहीं आए हैं। मैं समझता हूँ पहले इसी बिन्दु पर उन सामान्य लोगों से चर्चा करनी चाहिए जिन्हें हम गँवार किसान कहते हैं। आजकल मैं कुछ अफ्रीकी सरकारों के साथ काम कर रहा हूँ। अफ्रीकी जन के साथ, किसान के साथ तो हूँ ही। तो वहाँ मेरा एक मुख्य काम यह भी है कि विज्ञान और तक्नोलजी को कई तरीकों से कैसे विरहस्यीकृत किया जाए। लेकिन फिर इसी बात पर बल दूँगा कि विज्ञान को गम्भीरता से लिया जाए, विज्ञान को कम करने की कोशिश नहीं की जाए, क्योंकि विज्ञान तो इस बात का प्रमाण है कि हम निर्माण कर सकते हैं, पुनर्निर्माण कर सकते हैं। मुझे विश्वास है आप भी कल की चर्चा में यही बात कहते, किन्तु मुझसे रहा नहीं गया।'

श्रीपाद अच्युत दभोलकर

इन प्रयत्नों के राजनीतिक महत्व पर दभोलकर और फ्रेरे का चिन्तन भिन्न है। फ्रेरे ने जब प्रश्नों के उत्तर दिए तो उनमें एक उत्तर यह भी था, 'शब्द ही सिद्धान्त है' (लैंग्विज इज आइडियोलजी) लेकिन जब दभोलकर से पूछा गया कि क्या वे शिक्षा को परिवर्तन का औजार बनाना पसन्द करेंगे, तो उन्हें इस प्रश्न में राजनीतिक अर्थ का भय नज़र आया। बोले—'शिक्षा को परिवर्तन का औजार बनाने के विचार की तो मैं सराहना करता हूँ, किन्तु मैं ऐसा महसूस करता हूँ कि

इसे केवल राजनीतिक सक्रियता का ही औजार न बनाया जाए बल्कि सम्पूर्ण जीवन की सक्रियता का भी औजार बनाया जाए। इस ओर पहला कदम यह हो कि एक ऐसी अनौपचारिक शिक्षा प्रणाली एक ऐसी अनौपचारिक खुली प्रणाली निर्मित हो, जिसके अन्तर्गत वे लोग भी शैक्षिक उद्देश्यों की पूर्ति कर सकें जो शिक्षा व्यवसाय में नहीं हैं। हमारी नई शिक्षा का पहला लक्ष्य यही होना चाहिए कि वह विव्यवसायीकृत की जाए। इससे लोगों को हम यह समझा सकेंगे कि समूह में या समुदाय में हमारा अपना इतना ज्ञान मौजूद है जो हम सब के लिए खुला और और उपलब्ध करा सकते हैं। मैंने देखा है कि आज की औपचारिक व्यवस्था में भी अधिकांश सच्चे प्रतिभावान लोगों को उनकी प्रतिभा उन्हें स्कूल-कॉलेजों या यूनिवर्सिटियों में प्राप्त नहीं होती है बल्कि वहाँ प्राप्त होती है जहाँ वे काम करते हैं—समाज के ठीक बीच में, और हम उनके कार्य को वैज्ञानिक भी कह सकते हैं। जो ज्ञान आदमी को जीवन की यथार्थ स्थिति में उसकी समस्याओं को खुद उसके द्वारा सुलझाने में मदद करता है उसकी सदैव कीमत होती है, जरूरत होती है, माँग होती है। इससे उसमें यह विश्वास पैदा होता है कि किसी विशेष वैज्ञानिक साक्षरता के माध्यम से वह खुद अपना तकनीकी तन्त्र निर्माण कर सकता है। अपनी स्वतन्त्र इच्छा व शक्ति के मुताबिक अपने जीवन के हालात को, स्थितियों को सुधार सकता है, आकार दे सकता है, बदल सकता है, उनका एकदम कायाकल्प कर सकता है। इसमें वह अपनी क्षमताओं का उपयोग करेगा और विश्वास व सुरक्षा का भाव अर्जित करने में उन विव्यवसायीकृत प्रतिभावान लोगों का सहयोग लेगा जो किसी कठोर ढाँचे से बँधे नहीं होने पर भी छोटे-छोटे समूहों का जाल-सा स्थापित कर काम करेंगे। इससे समूह में एकता व अपनत्व की भावना पैदा होगी। इस समूह को हम क्रियाशील समूह (एक्शन सेल) या कार्य समूह (वर्क सेल) कह सकते हैं। इस तरह कार्य करने से सामान्य जन में खुद के पाँवों पर खड़ा होने व खुद के साधनों के भीतर से ही सम्पदा निर्मित करने की शक्ति विकसित होगी।'

धर्म की समस्या को भी श्री दभोलकर ने लिया और अपने जर्मन श्रोताओं को बताया कि भारत में इस्लाम धर्म कुछ निश्चित जमे-जमाए सिद्धान्तों पर चलता है। लेकिन इस्लामी संस्कृति के क्षेत्र में भी कुछ क्रान्तिकारी हैं जो काम और ज्ञान के नए सिलसिले चलाते हैं और नई चिन्तनधारा का निर्माण करते हैं। हमीद दलवई का उन्होंने उदाहरण दिया, जिसने मुसलमानों में शैक्षिक व सांस्कृतिक चेतना लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

सत्ता के विषय में श्री दभोलकर ने कहा कि यदि हम गरीब लोगों के बीच आर्थिक स्वतन्त्रता के भाव की स्थापना उनकी अपनी शक्ति के जरीए नहीं करेंगे तो वे सत्ता के समक्ष निर्भीकता से अपनी बात नहीं रख सकेंगे। एक जाग्रत्

विवेकपूर्ण मस्तिष्क (कॉसियंटाइज्ड माइण्ड) का, एक सच्चे आत्मनिर्भर मस्तिष्क का निर्माण तभी होगा जब आम आदमी व्यापारियों और मजदूरों के बाजारों पर निर्भर रहना बन्द कर देगा। उन्होंने कहा, 'जब तक निर्धन लोगों को उनकी अपनी ताकत के सहारे आर्थिक आज़ादी प्राप्त नहीं होती है तब तक वे व्यवस्था के विरुद्ध खड़े नहीं हो सकते। इसलिए हमें विकल्प के कुछ ऐसे रूप ढूँढ़ने होंगे जो मौजूदा प्रणाली के बाहर हों। मेरा विश्लेषण मुझे विज्ञान के विरहस्यीकरण की ओर ले जाता है। यदि हम विज्ञान पर से रहस्य का परदा उठा देते हैं और पारिपार्श्विक पर्यावरण (नेबरहुड इकोलजी) का निर्माण कर लेते हैं तो उसका फल यह होगा कि आम आदमी मजदूरों के समूह और बाजारों पर की निर्भरता से मुक्त हो जाएगा और हम एक जाग्रत्-विवेकपूर्ण मस्तिष्क का निर्माण कर सकेंगे जो सचमुच एक आत्मनिर्भर मस्तिष्क होगा।'

एक सवाल पूछा गया था कि जिस आदमी के साधन-स्रोत बहुत सीमित हैं या मात्र बंजर भूमि ही जिनका साधन-स्रोत है, क्या उनके जीवन-बसर के लिए भी किसी कृषि की उम्मीद हो सकती है? इसका उत्तर देते हुए श्री दभोलकर ने कहा, 'बीसवीं सदी के भौतिक, जीवोत्पत्तिक एवं अन्य विज्ञानों के ज्ञान-सम्बन्धों को देखते हुए मेरा तो ख़याल यही है कि ऐसा सम्भव है। मैं इसे प्रयोगात्मक सत्य कहता हूँ जो समुदाय में तब उत्पन्न होता है जब रहस्य के वातावरण से मुक्त ज्ञान की इकाइयाँ व्यावसायिक घेरे से बाहर आकर आम जन-समुदाय को अधिक आत्मनिर्भर बनाती हैं। भारत में स्वतन्त्रता संग्राम के वक्त में यही हुआ था। महात्मा गांधी ने तब इसी विधि से आम जन-समुदाय में जागृति पैदा की थी। उन्होंने उनमें यह विश्वास पैदा किया था कि समुद्र से नमक निकालने की उनमें शक्ति है। इससे लोगों में यह संकल्प जागा था कि सरकार के कानून के अलावा उनका अपना भी कोई कानून है। वैसा ही फिर होगा। हम प्रयोगात्मक सत्य को हमारे हाथ में लेंगे और कहेंगे कि सरकार व कृषि क्षेत्र की बड़ी हस्तियों द्वारा फैलाए जाने वाले कृषि-विज्ञान से यह श्रेष्ठ है। खुली शिक्षा के इस नए शैक्षिक उपकरण की सहायता से हम समुदाय में एक बुनियादी प्रयोगात्मक सत्य विकसित करेंगे। कभी संघर्ष का खतरा भी हो सकता है लेकिन मेरा ख़याल है कि यह वैकल्पिक सत्य तथा यह परम्परागत सत्य हमारे साथ होने के कारण हम हमेशा कोई समझौता कर ही लेंगे। यदि हम गांधीवादी तरीकों से संघर्ष करें तो यह तय करने के लिए कि हमारे लिए सचमुच सही व उचित क्या है—सत्य और शिव क्या है, हम व्यापक जनान्दोलन व सीधी कार्रवाई के जरीए किसी अनुकूल समझौते की ओर बढ़ सकते हैं। परिणाम बताएगा कि कौन-सी प्रणाली अधिक मानवीय है, गरीबों को अधिक लाभदायक व सहायक है।

'जैसा कि भारत में हमने अनुभव किया हमारा विश्वास है कि जब भी हमें सामाजिक व अन्य (राजनीतिक) स्थितियों को बदलना होता है, हमें कई रचनात्मक सम्भावनाएँ भी नज़र आ जाती हैं, केवल क्रिया-प्रतिक्रिया, थीसिस-एण्टीथीसिस और सिन्थेसिस में प्रकट होने वाले द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त की भूमिका ही एकमात्र सम्भव मार्ग नहीं रह जाती। विकल्प के रूप में हमारा अपना रचनात्मक सत्य निर्मित करने की हम क्षमता रखते हैं। हम कह सकते हैं कि यह एक अधिक अच्छा विकल्प है और यह एक नया रचनात्मक मानवीय योगदान होगा जिसे खुली शिक्षा प्रणाली से जोड़ दें तो सम्भव है हल निकल आए। मेरा अन्तिम बिन्दु यही है कि यह केवल राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं, अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर होगा, क्योंकि ज्ञान का सिलसिला अन्तःक्रिया करता हुआ बहुगुणित होने वाले तरीके से काम करता है। महत्त्व की बात यह है कि राजनीतिक प्रणाली से हम जो कुछ प्राप्त करते हैं उसकी तुलना में यह प्रगति एक अधिक अच्छे आयाम वाली होगी। इसके अलावा, हम यह रचनात्मक परिवर्तन सरकार या अन्य संस्थाओं के मुकाबले कम खर्च पर लाएँगे। इस प्रणाली से हम अस्तित्व रक्षा की ज्यादा सम्भावना प्राप्त कर सकेंगे।'

पावलो फ्रेरे

दभोलकर के बाद फ्रेरे बोले। उन्होंने कहा—'मैं कुछ टिप्पणियाँ करना चाहता हूँ जो दभोलकर की टिप्पणी से भी मेल खाती हैं। पहली टिप्पणी है शिक्षा की राजनीतिक प्रकृति के विषय में। इसे मैं एक ठोस उदाहरण से समझाया करता हूँ। शिक्षा समाज को स्वरूप प्रदान नहीं करती है। इसका विलोम होता है। समाज में जो सत्ता में होते हैं उनके हितों के अनुरूप पहले समाज खुद ढलता है फिर वह शिक्षा को ढालता है, स्वरूप देता है। बुर्जुआ समाज को बुर्जुआ शिक्षा ने पैदा नहीं किया था। बुर्जुआ शिक्षा ने बुर्जुआ सिद्धान्तों को ठीक तब फैलाया जब बुर्जुआ लोग सत्ता में पहुँच गए और सत्ता में बने रहने के लिए उन्होंने बुर्जुआ शिक्षा को संस्थाबद्ध कर डाला। कम-से-कम मेरे लिए तो शिक्षा पर विचार करना सत्ता पर विचार किए बिना सम्भव ही नहीं है। वास्तव में शिक्षा प्रणाली जिस समाज प्रणाली की उप प्रणाली है उस समाज प्रणाली को दुनिया भर में बदले बिना हम किसी भी शिक्षा प्रणाली का पुनर्निर्माण, पुनर्निरूपण या पुनस्सृजन नहीं कर सकते।

'जो भी हो, मैं यह भी सोचता हूँ कि जब समस्या सामने है तो इसे साफ-साफ समझ लेना चाहिए ताकि हम पूर्णतया निराशा में न डूब जाएँ। क्योंकि जब हम देखते हैं कि इस प्रणाली को यहाँ हम तब तक बदल तो सकते नहीं जब तक दुनिया भर की सामाजिक व्यवस्था बदल नहीं जाती है तो हो सकता है हम कह

दें—'मुझे कुछ नहीं करना है क्योंकि मैं दुनिया की समाज व्यवस्था नहीं बदल सकता।' मेरा मतलब यह नहीं है, इसलिए नहीं कि मैं ठकुरसुहाती करना चाहता हूँ बल्कि इसलिए कि ऐसा है नहीं। हम जो शिक्षक हैं, शिक्षाविद् हैं, हमें सामाजिक परिवर्तन से पहले वास्तव में कई काम करने हैं। पहला तो यों कि ऐसी कोई चीज नहीं है जिसे परिवर्तित या परिवर्तन रहित समाज कहा जा सके। उसका अस्तित्व ही नहीं है। समाज हमेशा परिवर्तन की प्रक्रिया में रहता है। उसमें एक खास किस्म की गत्यात्मकता होती है।

'सवाल सिर्फ इतना ही है कि संस्थाओं में और समाज में कोई वह स्थान ढूँढ़ा जाए जो खुला हो, मुक्त हो। कौन-कौन से मुक्त स्थान ऐसे हैं जिनके कारण मैं भीतर काम कर सकता हूँ, कुछ कर सकता हूँ। मुक्त स्थान का यह विचार हमें ऐतिहासिक सम्भावनाओं की ओर ले जाता है। अर्थात् इतिहास में हम वह कार्य करते हैं जो हम कर सकते हैं, वह नहीं जो हम करना पसन्द करते। हमें हमारे पास जितना मुक्त स्थान नज़र आता है उस सीमा तक हमें सोचना है, बहुत ठोस रूप में सोचना है, कि जिस स्थिति में हम हैं उससे आगे जाने के लिए किस विधि से काम करें।

'एक और बिन्दु है, उससे भी अन्तर आता है। यदि किसी पूँजीवादी बुर्जुआ समाज में तक्नोलजी और आधुनिकता—मैं विकास नहीं कहता, आधुनिकता कहता हूँ—का बहुत ऊँचा स्तर है तो हमें वैसी स्थितियाँ मिलती हैं जैसी कि जर्मनी में हैं। यदि किसी पूँजीवादी समाज में पूँजीवादी आधुनिकता का प्रारम्भिक रूप है, तक्नोलजी और आधुनिकता का स्तर ज्यादा ऊँचा नहीं है, तो हमें दूसरी तरह की स्थितियाँ मिलती हैं जैसे कि भारत में या ब्राजील आदि में हैं। लैटिन अमेरिका के कुछ भाग हैं जहाँ हमें समाज में भिन्न प्रकार का दमन देखने में आता है। जो दमन जर्मनी में है वह वैसा नहीं है जैसा कि लैटिन अमेरिका में। यह उतना नज़र नहीं आता। अन्तर्विरोध यहाँ भी हैं लेकिन ये वैसे स्पष्ट नहीं हैं जैसे कि मेरे देश ब्राजील में हैं। हमारे कार्यक्रमों में, कार्यों में, हमें इनका ध्यान रखना है।

'इस चिन्तन को जारी रखिए। यदि मैं एक बुद्धिजीवी हूँ—एक शिक्षक हूं या प्राध्यापक, कोई फर्क नहीं पड़ता और ऐसे समाज में रहता हूँ, और मेरी रुचि, जो कि एक राजनीतिक रुचि है, पूँजीवादी प्रक्रिया के अनुकूल पड़ती है, और मुझे रुचि रखने का अधिकार है, तो मैं इस समाज में सत्ता के साथ बिना किसी समस्या के काम कर सकता हूँ। लेकिन यदि मेरी रुचि भिन्न है, यदि मैं परिवर्तन लाना चाहता हूँ—केवल सुधार लाने के लिए नहीं बल्कि यदि मैं वास्तव में इस प्रणाली की प्रकृति को बदल देना चाहता हूँ, तो मुझे समाज की वर्तमान सत्ता के कारण जरूर कई समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। पहली स्थिति में मैं

सहमत हूँ, यदि मैं पूँजीवादी उत्पादन को, पूँजीवादी शिक्षा को, सुधारना चाहता हूँ, बढ़ाना चाहता हूँ, तब मुझे कोई समस्या नहीं होगी, क्योंकि तब मैं व्यवहार व नीतिगत दृष्टि से प्रणाली के भीतर हूँ। लेकिन दूसरी परिकल्पना में मैं व्यावहारिक स्तर पर तो प्रणाली के भीतर हूँ लेकिन नीति की दृष्टि से प्रणाली के बाहर हूँ। इससे मैं अस्पष्ट बन जाता हूँ। हम बुद्धिजीवियों में से कइयों की अस्पष्टता का यही कारण है।

'कितनी मज़ेदार बात है कि यही अस्पष्टता हमारे साथ तब भी रहती है जब हम बुद्धिजीवियों के रूप में सामान्यजनों के साथ काम करने जाते हैं—खास तौर से तब जब हम खुद को प्रगतिशीलों और क्रान्तिकारियों के रूप में देखते हैं। हम हमारी प्रगतिशीलता की और क्रान्तिकारिता की शाब्दिक घोषणाएँ करते हैं, लेकिन जब हम साधारणजनों के पास जाते हैं तब उनके शिक्षक बन कर, प्राध्यापक बन कर जाते हैं। हम उन्हें बचाने के लिए जाते हैं। हम उन्हें शिक्षित करने के लिए जाते हैं। हम कभी यह स्वीकार नहीं करते कि वे भी हमें शिक्षित कर सकते हैं। मिसाल के लिए आप एक बड़ी मज़ेदार बात यह देखेंगे कि कुछ तथाकथित क्रान्तिकारी कहते हैं कि मजदूरों में वर्ग चेतना नहीं है। वे कहते हैं—मजदूरों में वर्ग चेतना नहीं है, हमें वहाँ जाकर उन्हें वर्ग चेतना देनी चाहिए। लेकिन वे पैटि बुर्जुआ बुद्धिजीवी हैं। कैसे सम्भव हुआ यह? यह अस्पष्टता हमारे कार्यों में हमारे साथ चलती है।

'इसीलिए मैं दूसरी टिप्पणी यह करता हूँ कि शिक्षक, प्राध्यापक, शिक्षाविद् टेक्निशियन नहीं हैं, तटस्थ बुद्धिजीवी नहीं हैं, क्योंकि मेरी राय में वे मुख्य रूप से राजनीतिक व्यक्ति हैं, कलाकार हैं, हालाँकि शिक्षाविदों के रूप में कई बार हमें इस तथ्य की चेतना नहीं रहती है। कोई बात नहीं, शिक्षाविद् की आत्मपरकता उसके काम की राजनीतिक प्रकृति को बदलने के लिए काफी नहीं है। शिक्षाविद् को चाहे इसकी चेतना हो चाहे न हो, शिक्षाविद् होने के नाते उसे एक राजनीतिक, एक कलाकार बनना ही पड़ेगा, टेक्निशियन कभी नहीं बनना पड़ेगा। और इसी कारण मैं तो कहता हूँ कि अपने काम की राजनीतिक प्रकृति को एक शिक्षाविद् जितना अंगीकार करेगा एक शिक्षाविद् के रूप में उसकी प्रभावशीलता उतनी ही ज्यादा बढ़ेगी और उत्तरोत्तर वह उतना ही ज्यादा योद्धा बनेगा। इसका यह अर्थ नहीं कि युयुत्सु होने के कारण अपने शिक्षार्थियों पर अपनी राजनीतिक रुचियाँ लादने का अधिकारी हो जाता है। मैंने इसे अपने जीवन में ढालने की कोशिश की है। पता नहीं मैं आपको यह कह भी सकता हूँ कि नहीं कि 'मैं एक योद्धा हूँ।' शायद मैं अभी हूँ भी नहीं, लेकिन मैं ऐसा बनने की कोशिश जरूर करता हूँ।

एक टिप्पणी मैं करूँगा शिक्षाविद् की उस भूमिका के बारे में, जो उसे एक राजनीतिक और एक कलाकार के रूप में अदा करनी होती है। शिक्षाविद् का

माने यह नहीं है कि वह कोई ऐसा आदमी होता है जिसके पास ज्ञान का सूटकेस है और जो उनको ज्ञान बाँटता फिरता है जिन्हें अभी तक ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है। नहीं, वस्तुस्थिति इसके उलटी है। शिक्षाविद् एक ऐसा व्यक्ति होता है जो दूसरों के साथ विकसित होने की स्थायी प्रक्रिया के भीतर सन्निविष्ट है। शायद मैं अनाड़ी हूँ, लेकिन यह मेरी दूसरी परिकल्पना है। एक चित्र है जिसे मैं आकार देना चाहता हूँ।

हमेशा हर शैक्षिक स्थिति का अर्थ होता है ज्ञान की स्थिति। एक तरफ शिक्षक होता है, दूसरी तरफ शिक्षार्थी होते हैं और कोई खास वस्तु होती है जिसे जानना होता है। जो वस्तु जाननी हो वह कार्यक्रम के अन्दर ही होनी चाहिए। इस कारण मेरी राय में कार्यक्रम केवल शिक्षक का ही नहीं होता, उसका निर्माण दोनों द्वारा होना चाहिए। और इसलिए शिक्षा सदैव जानने की एक क्रिया होती है, ज्ञान का एक खास सिद्धान्त जो कर्म में परिणत होता है।

यदि यह सच है, और मैं एक शिक्षक हूँ, तो अपने आपसे पूछूँगा—'मुझे क्या जानना चाहिए' मैं यह नहीं पूछूँगा—'क्या मैं जान सकता हूँ?' क्योंकि यह एक मध्ययुगीन प्रश्न है। ऐतिहासिक अनुभव बताता है कि हम जान सकते हैं। मुझे यह भी पूछने की जरूरत नहीं कि मैं ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकता हूँ। यह तो मात्र विधि-प्रविधि का ही सवाल होता। प्रश्न यह पूछना है कि 'किसके लिए जानें?' किस बात के पक्ष में, किस व्यक्ति के पक्ष में? जब यह पूछेंगे तो इसके भीतर ही यह सवाल भी निहित रहेगा, 'किस बात के विरोध में, किस व्यक्ति के विरोध में मुझे जानना चाहिए?' ये सवाल पूछता हूँ तो, मेरे शिक्षा कर्म के कारण, मुझे सहज ही प्रकट हो जाता है कि ज्ञान शास्त्र तटस्थ नहीं है। अतः इन प्रश्नों का जो उत्तर आएगा उसका मेरे योद्धापन से, मेरी राजनीतिक स्पष्टता से, घनिष्ठ सम्बन्ध होगा। यदि मैं जानने की क्रिया की मेरी दृष्टि के कारण सामान्यजन के सामर्थ्य में विश्वास करता हूँ (दभोलकर भी गहरा विश्वास करते हैं, और मैं इसमें शामिल हूँ) तो मैं गरीब किसानों के पास उन्हें ज्ञान स्थानान्तरित कर देने के लिए नहीं जा सकता। किसी संगोष्ठी में बैठे विद्यार्थियों को मैं ऐसे रिक्त पात्र नहीं मान सकता जिनके मस्तिष्क में मुझे ज्ञान ठूँसना है। मैं ऐसे ज्ञान में विश्वास करता हूँ जिसे हम कुतूहल के साथ बनाते हैं और फिर बनाते हैं, जिसे हम पैदा करते हैं और फिर पैदा करते हैं।

'और अन्त में मैं अब आपको यही कहूँगा कि आज एक निर्वासित ब्राजीलवासी के रूप में, जिनेवा में रहते हुए (लेकिन पूर्वी ब्राजील से आए ब्राजीलवासी के रूप में), मुझे बार-बार यही खयाल आता है कि यूरोप की परम्पराओं ने, यूरोप की संस्कृति ने, वास्तव में मुझे बहुत लुभाया है। संस्कृति

भी मेरा एक क्षेत्र है। जब मैं अफ्रीकियों के साथ काम करने अफ्रीका जाता हूँ तो मेरी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एक अन्तर्विरोधी अभिवृत्ति के रूप में, मेरी इच्छा के विपरीत या कम-से-कम मेरी इच्छा की शाब्दिक घोषणाओं के विपरीत, उन पर असर जरूर करती है। इसलिए एक साथी और भाई के रूप में मैं आपसे कहता हूँ कि ऐसी संस्थाओं या विश्वविद्यालयों का एक खतरा यह है कि तीसरी दुनिया के लोगों को पढ़ाते वक्त आप विज्ञान और तक्नोलजी के सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पहलुओं को भूल जाते हैं। आप हम पर वे कुशलताएँ और कलाएँ लाद देते हैं जो निश्चित ही तटस्थ होती हैं और यहाँ से अपने देशों को लौटने पर जो वहाँ हमें हमारे भाइयों से जुदा कर देती हैं, पराया बना देती हैं।

'मैं यह नहीं कहता कि मैं आपके योगदान की सम्भावना के खिलाफ हूँ। नहीं, क्योंकि मैंने आपसे, यूरोप के लोगों से, उत्तरी अमेरिका के लोगों से, अफ्रीका के लोगों से, एशिया के लोगों से, योगदान पाया है। मैं इसके खिलाफ नहीं हूँ। लेकिन मैं एक बात की ओर आपका ध्यान बार-बार जरूर आकृष्ट करना चाहूँगा। वह यह है : 'कभी यह मत सोचो कि सोचने का केवल यूरोपियन तरीका ही एकमात्र सम्भव तरीका है।'

'नहीं, हमें चाहिए कि हम औरों से भी सीखने की चेष्टा करें। अफ्रीकियों के पास, भारतीयों के पास, एशियाइयों के पास, लैटिन अमेरिका के लोगों के पास हमें (अब मेरा मतलब यूरोपियनों से है), सिखाने को कई बातें हैं, और हमें इस अवसर का लाभ लेना चाहिए।'

दभोलकर

अगले दिन जब दभोलकर से पूछा गया कि क्या यह उनका परम सत्य है तो उन्होंने उत्तर दिया, 'मैंने जिस सत्य की चर्चा की है वह सत्य जीवन की यथार्थ स्थिति का सत्य है, एक ऐसा सत्य जो पर्यावरण को बदलने में समर्थ है। यह परम सत्य नहीं है।' जब उनसे पूछा गया कि स्थिति के अनुसार क्या यह सत्य भी बदलेगा तो उन्होंने उत्तर दिया, 'मेरा आशय सत्य को किसी दार्शनिक, सामाजिक या राजनीतिक अर्थ में रखना नहीं है। विज्ञान के सिद्धान्त वही रहेंगे जो वे हैं, हम उन्हें नहीं बदलेंगे। लेकिन वास्तविक जीवन के क्षेत्र में वैज्ञानिक सिद्धान्तों का कुल प्रभाव भिन्न विकल्पों को जन्म देगा। प्रयोगों से इन विकल्पों की जाँच होगी और भिन्न जनसमूहों को इन प्रयोगों से भिन्न सत्य प्राप्त होंगे। सब जगह वे एक से नहीं होंगे।'

उस दिन सवेरे हुई दलीय चर्चाओं पर जब श्री दभोलकर व श्री फ्रेरे को टिप्पणी करने को कहा गया तो श्री दभोलकर ने कहा, 'उन पर टिप्पणी करना

वास्तव में कठिन होगा क्योंकि मैं दूसरे दल में बैठा हुआ था और मेरा ध्यान कुल चर्चा के एक भाग पर ही केन्द्रित था। अब मुझे कुछ नई राह मिली है और उसके लिए मैं दूसरे दलों का आभारी हूँ। लेकिन फिर भी मुझे ऐसा लगता है कि हम हमारी कुछ पूर्व निश्चित धारणाओं की गुंजलक में बैठे हुए ही अगर-मगर कर रहे हैं। हम किसी नई स्थिति को समझने की कोशिश करते हैं लेकिन उसके भीतर प्रवेश करने को हम तैयार नहीं हैं। वैसे ही, मेरा खयाल है, हम संशय में हैं और समस्या पर काम करने को सही रूप में तैयार नहीं हैं।'

फ्रेरे

फ्रेरे ने कहा : टिप्पणी नहीं करूँगा, केवल दो शब्द कहूँगा। केवल दो शब्द। मुझे तो ऐसा लगता है कि देर-सबेर हमको केवल विज्ञान के विकल्पों पर ही नहीं, समाज के वैकल्पिक आदर्शों पर भी चर्चा करनी होगी। आज न सही, लेकिन मैं इसी बिन्दु पर बल देना चाहूँगा क्योंकि फिर मुझे यही कहना है कि विज्ञान और शिक्षा से समाज का निर्माण नहीं होता है बल्कि इसके भौतिक आधार से होता है। 'देखो, मैं आ गया हूँ।' यों कह कर अचानक विज्ञान प्रकट नहीं होता है। नहीं, विज्ञान का मतलब है समाज की भौतिक स्थितियों पर आधारित ऐतिहासिक प्रक्रियाएँ और सामाजिक प्रक्रियाएँ। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम विज्ञान में विकल्पों पर चर्चा ही नहीं करें। नहीं, वह भी रोचक है। लेकिन अनाड़ी बनने से बचने के लिए हमको अपनी दृष्टि बहुत साफ कर लेना बहुत जरूरी है। जैसे कि यह सोचना कि एक नए प्रकार के विज्ञान की रूपरेखा बना कर हम उसे बिना सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन किए हुए समाज में क्रियान्वित कर सकते हैं।

'आप यह न समझें कि मैं यान्त्रिकता में विश्वास रखता हूँ। हकीकत यह है कि समाज के नए रूप के निर्माण के लिए समाज के भौतिक आधार में परिवर्तन का यह मतलब नहीं है कि दूसरे ही रोज भिन्न प्रकार का विज्ञान उत्पन्न हो जाएगा। इतिहास देख लीजिए, आप आसानी से देख सकते हैं कि क्रान्तिकारी कहलाने वाले समाज में भी विज्ञान का बुर्जुआ रूप जारी रहता है।'

दभोलकर

दभोलकर बोले, 'मैं तो यह समझता हूँ कि शिक्षा प्राप्त करने वालों में से यदि कोई व्यक्ति समाज की महत्ता पहचानता है तो वह समाज से तादात्म्य स्थापित कर सकता है, उसे बदल सकता है। ब्रिटिश राज में भारत में यही हुआ। लेकिन आज़ाद होने के बाद हमारे शिक्षित लोगों ने सोचा कि विकास के विदेशी तरीकों के कुछ अंशों की नकल करने मात्र से वे देश को बदल देंगे। इस विचार से उनके विकास के मॉडल्ज़ की उन्होंने नकल की और सोचा कि आम जन को

अनुप्राणित कर देंगे। लेकिन शिक्षित लोगों का आम लोगों से विदेशी तौर तरीके का यह तादात्म्य कोई वास्तविक परिवर्तन लाने में या वास्तविक विकास लाने में असफल रहा। इसके लिए भले हम ज्ञान-प्रणाली को दोष न दें, किन्तु जिस विधि से यह ज्ञान छात्रों व सम्भागियों को दिया जाता है वह जरूर दोषी है। यह सत्य है, विज्ञान के क्षेत्र में यह खास तौर से सत्य है। हम विज्ञान के विषय में बात तो करते हैं, उसके महत्त्व का प्रतिपादन भी करते हैं और हमें जो परिवर्तन अपेक्षित हैं उन्हें इसके द्वारा लाया जाना सिद्ध करने की तत्परता भी दिखाते हैं लेकिन परिवर्तन शायद ही कभी लाते हों, परिवर्तन लाने के लिए इसका उपयोग शायद ही कभी करते हों। जब तक हम मस्तिष्क के क्षेत्र में नहीं आते, जब तक हम हर कदम पर क्षेत्र के सभी उपलब्ध ज्ञान का उपयोग करते हुए अपनी समस्याओं को वैज्ञानिक पद्धति से हल करने का प्रयत्न नहीं करते, जब तक हम विज्ञान के प्रयोगों का अनुभव आपस में नहीं बाँटते, उनसे नहीं बाँटते जो अपने-अपने समूहों में क्रियाशील हैं, हमारे पड़ोस में ही हैं, तब तक विज्ञान बंजर ही रहेगा।'

पावलो फ्रेरे ने अफ्रीका के दो द्वीपों—साओ टोमे तथा प्रिंसिपी—का अनुभव सुनाया, जो अब स्वतन्त्र देश हैं, पहले पुर्तगाली उपनिवेश थे। आम जन के प्रति सम्मान की भावना और बराबरी के सम्बन्ध की स्थापना आवश्यक है। उन्होंने गिनी बिसाऊ और केस वर्डी के भी अनुभव सुनाए। अफ्रीका के हाल ही में स्वतन्त्र हुए राष्ट्र विकास की समस्याओं से जूझ रहे हैं जिनमें विज्ञान व शिक्षा का महत्त्व कम नहीं है।

फ्रेरे और दभोलकर के ऊपर दिये गए विचार मननीय हैं। कभी ऐसा लगता है कि दोनों एक ही दिशा में जा रहे हैं, कभी लगता है कि दोनों भिन्न दिशाओं में जा रहे हैं। दभोलकर ने अनौपचारिक ज्ञान के सिलसिलों की वृद्धि के सहारे विकास लाने का जो संकल्प रखा है और उसके लिए एक जाग्रत्-विवेकपूर्ण मस्तिष्क के निर्माण की जो बात की है वह बिल्कुल फ्रेरे के करीब पड़ती है। व्यवस्था से संघर्ष के लिए कमज़ोर वर्ग या आम जन-समुदाय को सशक्त करने में भी वे सहमत हैं। अन्तर इतना ही है कि ऐतिहासिक सामाजिक आधार को स्वीकार करके उसमें परिवर्तन करने के बड़े परिप्रेक्ष्य को अर्थात् परिवर्तन प्रक्रिया की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक भूमिका को वे टाल कर निकलने में ज्यादा सुरक्षा महसूस करते हैं। दूसरी ओर फ्रेरे भी शिक्षक व वैज्ञानिक की सीमाओं को स्वीकार करते हैं और इसलिए वे इतना ही प्रयास करने की सलाह देते हैं जितना उपलब्ध अवसर व अवकाश के अनुसार सम्भव हो। न हम फ्रेरे की दृष्टि को नकार सकते हैं और न शुद्ध सात्विक गांधीवादी शिक्षक व वैज्ञानिक के महत्त्व को ही कम करके देख सकते हैं। लेकिन जब 'जाग्रत् मस्तिष्क' का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं तो

सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक परिप्रेक्ष्य के प्रति चेतन रहना भी जरूरी है। जो शक्ति हमारे भाग्य का फैसला करती है उसका केन्द्र कहाँ है यह जानना और समाज के विकास में उसके समुचित उपयोग पर विचार करना शिक्षा व विज्ञान के सामाजिक लक्ष्यों को अधिक स्पष्ट करता है तो निर्भीकता के साथ शिक्षकों व वैज्ञानिकों को फ्रेरे के विवेचन पर जरूर ग़ौर करना चाहिए। जैसा कि दभोलकर ने माना है, गांधीजी का बताया मार्ग हमें सत्य के प्रयोग की ओर ले जाता है। यदि उस प्रयोगात्मक सत्य के सिद्धान्त को स्वीकार करें तो भी सामाजिक आर्थिक असमानता व अन्याय को मिटाने के लिए किया जाने वाला संघर्ष 'सत्याग्रह' है, सत्य के लिए आग्रह है। फिर दोनों में अन्तर कहाँ है? एक ही बात कहते हुए भी दोनों दो छोर पर चलते दिखाई देते हैं, क्यों? दोनों ही ज्ञान को विरहस्यीकृत और विव्यवसायीकृत करने पर सहमत हैं। आम जन-समुदाय पर ध्यान व शक्ति केन्द्रित करने को भी दोनों सहमत हैं। सामाजिक आधारों को बदलने पर एक मौन है, दूसरा मुखर है और सम्भवतः यही सीमारेखा आगे के विचार की जननी हो सकती है।

शिक्षा बीमार क्यों है

स्कूलों-कॉलेजों की हालत किसी से छिपी नहीं। आए दिन कॉलेजों में छात्रों द्वारा आन्दोलन किए जाते हैं। आए दिन अध्यापकों-प्राचार्यों के साथ अशिष्ट व्यवहार के समाचार सुनने में आते हैं। छात्रों द्वारा छात्रों पर या अध्यापकों-प्राचार्यों पर बर्बर हमलों की खबरों की संख्या भी बढ़ती जा रही है। विश्वविद्यालयों के परिसर ज्ञान-विज्ञान की वार्ताओं से नहीं, संघर्षों के धमाकों से गूँजते रहते हैं। शायद किसी भी विश्वविद्यालय में कोई भी कुलपति चैन से काम नहीं कर पाता है। सामान्य प्रशासनिक नियम के अनुसार तो किसी भी संस्था में कानून व व्यवस्था की जिम्मेवारी संस्था प्रशासक की ही होती है। यदि कानून व व्यवस्था ठीक से नहीं चलती है तो प्रशासक ही जिम्मेवार होता है। उसी से जवाब तलब होता है। कुलपति लोग त्यागपत्र देकर लगातार जा रहे हैं। विद्यालयों में भी स्थिति धीरे-धीरे बिगड़ने लगी है। अनुशासनहीनता बढ़ रही है। शिक्षण-कार्य कमजोर पड़ता जा रहा है। महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में शिक्षण कार्य पहले ही कमजोर था, यह अब शून्य की ओर तेजी से अग्रसर है।

विद्यार्थी लोग जब दंगे नहीं करते थे और विद्यालयों-महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों के प्रांगण में जब अपेक्षाकृत शान्ति थी तब भी शिक्षा रुग्ण थी। तब जो रुग्णता थी वह भी है और नए परिवर्तनों के साथ नई रुग्णता और बढ़ी है।

पहले जो रुग्णता थी वह स्वास्थ्य बन कर सामने आती थी। आज के दंगे न हों और शान्त वातावरण हो तो भी वह रुग्णता तो रहेगी ही। हो सकता है उसमें भी वृद्धि हुई हो। वैसे कोई भी वस्तु उसी स्थान पर नहीं रहती है। समय के साथ हर चीज़ आगे बढ़ती है, रूप बदलती है। शिक्षा की बीमारी भी आगे बढ़ी है। आकार-प्रकार दोनों में परिवर्तन आया है।

शिक्षा की बीमारी को कई स्तरों पर देखना होगा। हम यहाँ कुछ बिन्दुओं पर ही चर्चा कर सकते हैं, और वह भी बहुत संक्षेप में, क्योंकि शिक्षा का क्षेत्र बहुत बड़ा है और इसकी हर समस्या समाज की अनेक क्रियाओं से जुड़ी हुई है। लेकिन संक्षेप में भी चर्चा नहीं करें तो समस्या पर विचार का सिलसिला आगे

कैसे बढ़ेगा? यही सोचकर इस निबन्ध में मैं आपके समक्ष कुछ पहलू रख रहा हूँ। समस्या पर विचार का सिलसिला जारी रहना चाहिए।

समस्या पर विचार का सिलसिला जारी न रहना ही पहली समस्या है। समस्या जब तक महसूस नहीं होती तब तक उस पर ध्यान नहीं जाता। विचारशील नहीं होते तब तक महसूस भी नहीं होगा और न ध्यान जाएगा। विचारशील कौन होगा? वही जिसमें विचार की क्षमता होगी, संकल्प होगा, साहस होगा। और वह तभी विचारशील होगा जब इसके लिए वातावरण होगा, कोई प्रेरक या उत्प्रेरक होगा। विचार की क्षमता पैदा करना, वातावरण बनाना और प्रेरणा देना शिक्षा का काम है। शिक्षा... प्रणाली अभी तक इस दिशा में बहुत कम अग्रसर हुई है।

भारत में पहले अंग्रेजी शासन था, रियासतों में राजा थे। स्वभावतः विचार पर ध्यान कम और आज्ञापालन पर ज्यादा था। राजाओं का राज अंग्रेजों से पहले भी था, मुग़लों की सल्तनत भी थी, और उससे और उससे पहले भी राजा राज करते थे। यूरोप में भी जार थे, बादशाह थे, राजा और सामन्त थे। शिक्षा की बात उस सीमा तक ही आगे बढ़ी जिस सीमा तक उसे राजा की इजाजत थी। राजा के प्रकार के साथ-साथ इसमें परिवर्तन आया, खुलापन आया, विचार को स्थान मिला। पहले एक ही विचार था—राजा सर्वोपरि है, ईश्वर का प्रतिनिधि है। मुक्ति के संघर्षों ने राजा की एकात्मक सत्ता का अन्त किया, जनतन्त्र आया। भारत भी दासता की जंजीरों से मुक्त हुआ। शिक्षा में भी विचार की स्वतन्त्रता आई, नई पाठ्यपुस्तकें बनीं, नई शिक्षण-पद्धतियों का प्रशिक्षण हुआ। हमने समझा समस्या समाप्त हो गई। लेकिन समस्या समाप्त नहीं हुई। देखने का मौका मिला तो देखा कि अभी हमने कुछ नहीं देखा है। बहुत देखना बाकी है। बहुत सोचना बाकी है।

परिवार में गुस्सैल माँ-बाप के प्रवेश के साथ एकदम शान्ति आ जाती है। तना हुआ चेहरा देखते ही सब बच्चे, सब औरतें, छोटे-बड़े सभी लोग चुप हो जाते हैं। कोई भी आगन्तुक कह देगा कि उस परिवार में कोई समस्या नहीं है। माँ-बाप के चेहरे पर तनाव न हो, गुस्सा न हो और आजादी का वातावरण हो तो घर में बड़ी चहल-पहल रहती है। लेकिन आजादी का अतिरेक हो और प्रेम का दरिया बहता हो तो वही चहल-पहल चहचहाते चिड़ियाघर में बदल जाती है। तब मर्यादा और संयम का महत्त्व समझ में आता है, लेकिन इसी मर्यादा और संयम के महत्त्व को वस्तुस्थिति से बाहर निकाल कर मन्त्र रूप में रटाने लगें तो इनका उल्लेख ही उपयोगी क्यों न हो। उपयोगी होते हुए भी प्रौढ़ लोगों को प्रौढ़ों के लिए ऐसा कोई नियम नहीं बनाने दिया जाएगा[1]। खेल-कूद या व्यायाम स्वास्थ्य के लिए कम उपयोगी नहीं हैं किन्तु क्या कोई प्रौढ़ एक घण्टे के लिए भी वहाँ नियमित रूप से जाने की बाध्यता स्वीकार करेगा?

कैसा कमाल है कि प्रौढ़ तो एक घण्टे की बाध्यता भी स्वीकार नहीं करता और बच्चे से अपेक्षा की जाती है कि वह 12 घण्टे की बाध्यता स्वीकार करे! कहीं-कहीं यह 14 या 16 घण्टे भी हो जाती होगी लेकिन 12 घण्टे तो साधारण रूप से आप गिन सकते हैं। दस बजे से 4.30-5 बजे तक पढ़ाई फिर 6 बजे तक खेल-कूद, स्काउटिंग आदि। रात 7 से 10 बजे तक गृह-कार्य। सुबह उठकर कम-से-कम दो या तीन घण्टे तो पुनः गृह-कार्य हर बालक करता ही है। जो माँ-बाप कठोर अनुशासन रखते हैं वे 4 बजे ही बच्चे को काम पर लगा देते हैं और रात के 11 बजे तक कराते हैं। उनके लिए 17 घण्टे का हो गया एक दिन में। क्या आप स्वीकार करेंगे कि छात्र पर इतने घण्टे तक कार्य करने का भार उचित होता है? आप स्वीकार करें या न करें, सोवियत रूस इसे गर्व से स्वीकार करता है और कहता है कि उसके 'बड़ी कक्षाओं के छात्र स्कूल का शिक्षण व गृह-कार्य मिला कर एक दिन में कुल 12 घण्टे काम करते हैं हालाँकि यह भी पूरा नहीं कहा जा सकता क्योंकि ज्ञान का परिमाण लगातार बढ़ रहा है।'[2] गनीमत है कि सोवियत रूस ने स्पष्टता से स्वीकार किया। दुनिया भर के मजदूर माँग करते हैं कि काम के घण्टे घटाएं जाएँ, और बच्चों के काम के घण्टे हम बढ़ाए चले जा रहे हैं और उसमें भी सन्तोष नहीं है क्योंकि ज्ञान का परिमाण बढ़ रहा है। ज्ञान का परिमाण तो बढ़ेगा ही, किन्तु इस सभी का बोझ ढोना क्या बच्चों की ही जिम्मेवारी है? वस्तुतः यह सब होने का मुख्य कारण यह है कि हम शिक्षा के प्रयोजन व बच्चों की गरिमा को सही परिप्रेक्ष्य में नहीं देख पा रहे हैं। बच्चों के लिए हो चाहे अन्य प्रौढ़ के लिए, कार्य तभी भार बनता है जब हम उसे स्वेच्छा से ग्रहण नहीं करते हैं। प्रणाली लादती है तो वह भार है। यदि रुचि-कार्य के रूप में फुरसत के क्षणों में करने के लिए कोई काम बच्चा चुनता है व करता है तो भार नहीं होता। प्रौढ़ भी नौकरी-मजदूरी के बाद फुरसत के क्षणों में मर्जी से रुचि-कार्य करे तो कितना ही काम कर सकता है, करता है। कई सरकारी कर्मचारी, श्रमिक और शिक्षक, नौकरी के बाद कॉलेजों में पढ़ते हैं, ट्यूशन करते हैं, उद्योग-उद्यम व समाज सेवा के कई काम करते हैं पर थकते नहीं, शिकायत नहीं करते, जुलूस निकाल कर माँग नहीं करते कि हम पर से यह भार हटाओ। स्पष्ट है कि हम बच्चों पर जुल्म करते हैं और शिक्षा को बीमार बनी रहने पर मजबूर करते हैं।

शिक्षा की भूमिका को समझने की कोशिश करें। इसके प्रयोजनों को, इसकी प्रक्रिया को और इसके प्रभाव को भी समझने की कोशिश करें। हमें न दूसरी भाषाओं से एलर्जी है और न दूसरे देशों से लेने में ही कोई शर्म की बात है। शिक्षा के प्रांगण में तो लेना ही लेना है। जिसने विद्यालय में कदम रखा है, जिसने समाज की उपस्थिति को देखा है, स्वीकार किया है, वह तो तत्काल जान जाएगा कि

(क) बिना लिए और (ख) बिना दिये न शिक्षा अस्तित्व में आ सकती है और न समाज का जन्म हो सकता है। सीखने का भाव होने का अर्थ ही यही है कि हम लेने को तैयार हैं, लेने को इच्छुक हैं। क्या लेते हैं यह नहीं मालूम, लेकिन तृप्ति अवश्य महसूस करते हैं और जिसके सहारे से यह तृप्ति महसूस करते हैं उसके प्रति आदर के भाव से भर जाते हैं। विभोर होकर कहते हैं—'गुरु चरनन अविनाशी'। ज्ञान पाने से जैसे हमें अमरता का आभास होता है। इसी को अभिव्यक्ति देने के लिए 'गुरु चरनन अविनाशी' कहा—गुरु के चरण अमर हैं। गुरु की महिमा भारत में सैकड़ों वर्षों से गाई जा रही है। महिमा गाते-गाते हम भले भूल गए कि हमको किधर जाना था और किधर जा रहे हैं। गुरु भी भूल गया कि समाज के प्रति उसको क्या करना था और वह क्या कर रहा है। व्यवस्था का अंग बन कर वह मुक्ति का मार्ग बताने की बजाय खुद गुलाम बनाने का, गुलामी लाने का औजार बन गया। विद्या द्वारा मुक्ति पाने का मुहावरा (सा विद्या या विमुक्तये) बहुत पुराना है। गुरु ने इसे मन्त्र की तरह पढ़ा कर इसे इसके अर्थ से ही मुक्त कर दिया। अर्थशून्य खोखले मुहावरे रट-रट कर छात्र समाज में आए तो अपना स्थान नहीं पहचान पाए। हताश हुए। उलटे-सीधे, सही-ग़लत का हिसाब छोड़ दिया। सामाजिक-असामाजिक कार्य का भेद मिट गया। असामाजिक आचरण की मर्यादा नहीं रही। लज्जा और शर्म भी चुक गए। मूल्यों का ह्रास हो गया। मूल्यों के आगे इस शरीर को तुच्छ समझने के लिए धर्म, ईश्वर, परलोक आदि का जो भाव दिया था, आदर्श दिया था, उसी को पकड़-पकड़ कर लटक गए, सो गए। यह भूल ही गए कि समाज की सेवा के लिए श्रेष्ठ मूल्यों को अपनाने में शरीर का मोह न रहे, और सम्बन्धियों की ममता न रहे और क्षुद्र स्वार्थों से आदमी विचलित न हो इसलिए उसे 'माया' कहा और अपेक्षा की गई कि 'कीर के कागर ज्यों नृप चीर' छोड़ कर निःस्पृह भाव से समाज की सेवा करेगा, और किया यह कि इस संसार को 'असार संसार' कह कर कीर्तन करने लग गए। हर देश में, हर धर्म में, मानवी मूल्यों की स्थापना के बाद उनकी ऐसी ही दुर्दशा हुई है। अच्छी शिक्षाओं का समाज के हित में उपयोग करने की बजाय, ऊँचे-ऊँचे मूल्यों से समाज की उन्नति की चेष्टा करने की बजाय, उन शिक्षाओं और मूल्यों का मृदंग बना-बना कर लोग कीर्तन करने लग गए। इस्लामी संस्कृति हो चाहे ईसाई या हिन्दू संस्कृति, सभी में समाज श्रेष्ठ था, दीनजन श्रेष्ठ था, दरिद्र 'नारायण' था (रजनीश की व्यंग्योक्ति के अर्थ में नहीं)।[3] समाज की अर्थात् दीनदुःखियों की सेवा करना परम धर्म था। आज भी है, किन्तु कीर्तन के लिए विद्यालयों में छात्र प्रार्थना करते हैं, 'दीन-दुःखी, दुबलों-निबलों की सेवा करें' और वास्तविक जीवन में उनके माँ-बाप, और बड़े हो कर—या विद्यार्थी जीवन में ही—वे स्वयं, उन्हीं 'दुबलों-निबलों' को दुर्बल-

निर्बल बनाए रखकर तथा नए 'दुबलों-निबलों' की सृष्टि करके अपनी पूँजी बढ़ाने में लगे रहते हैं। क्यों? क्योंकि शिक्षा की प्रक्रिया वास्तविक जीवन से जुड़ी नहीं। कटी हुई रही, दूर रही।

शिक्षा को वास्तविक जीवन से जोड़ने का, समाज से अर्थात् 'दुर्बल-निर्बल की उन्नति से' जोड़ने का, एक ही उपाय है कि कीर्तन या प्रार्थनाएँ कराने की बजाय यह सोचा जाए कि कोई क्यों गरीब है, और कोई क्यों धनवान है? उत्पादन के साधनों से समाज के, व्यक्तियों के, और शासन व व्यापार-धन्धों के, सम्बन्ध कैसे नियन्त्रित होते हैं? कौन इन सम्बन्धों पर कितना प्रभाव रखता है, कैसे रखता है, समान वितरण कैसे हो, समाज के हाथ में यह नियन्त्रण कैसे रहे? आर्थिक विषमता कैसे दूर हो?

शिक्षा राजनीति का स्थान तो नहीं ले सकती लेकिन तटस्थ भी नहीं रह सकती। समाज के विकास में सभी की भागीदारी आवश्यक है। उत्पादन में भागीदारी होगी तो वितरण में भी होगी। विकास की पूरी प्रक्रिया को भागीदारीपूर्ण बनाने के लिए ही गांधीजी ने बुनियादी तालीम की योजना प्रारम्भ की थी। संयुक्त राष्ट्र संघ के खाद्यान्न एवं कृषि संगठन (एफ.ए.ओ.) ने भागीदारीपूर्ण विकास के कार्यों को सफल बनाने के लिए कार्यकर्ताओं को तैयार करने के कई प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाए हैं। ऐसे ही एक प्रादेशिक प्रशिक्षण का ब्योरा कमला भसीन की पुस्तक 'तोड़ना बाधाओं का' में प्रकाशित हुआ है। उसमें वे लिखती हैं—'विकास के लिए कार्य करने वाली संस्थाएँ बाजदफा कह देती हैं कि उनका राजनीति से कोई सरोकार नहीं है। ऐसी घोषणाएँ बहुत उलझन पैदा करती हैं। संकीर्ण अर्थ में राजनीति को भले दलगत राजनीति समझा जाता हो, जिसका उद्देश्य मात्र सत्ता प्राप्त करना होता है, लेकिन व्यापक अर्थ में यह समाज की सत्ता के पारस्परिक सम्बन्धों का ही एक रूप है। इस व्यापक अर्थ को आधार बनाकर देखें तो विकास से सम्बन्ध रखने वाले लोग राजनीतिक समस्याओं से बच नहीं सकते। यदि विकास का अर्थ साधन-स्रोतों का पुनर्वितरण और सत्ता की पुनर्रचना है तो यह एक ऊँचे दर्जे का राजनीतिक मसला है। जो लोग सत्ता की संरचना को नहीं बदलते वे राजनीतिक हैं क्योंकि वे संरचना को स्वीकार करते हैं। उनकी निष्क्रियता स्वयं अपने आप में एक राजनीतिक क्रिया है। जो लोग गरीबों को आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक शक्ति देना चाहते हैं या उसमें वृद्धि करना चाहते हैं वे एक राजनीतिक कर्म कर रहे होते हैं। इसलिए कोई कर्म राजनीति से रहित नहीं है। जो भी कर्म है वह या तो परिवर्तन लाने के लिए है या नहीं लाने के लिए है। जो अपने आपको तटस्थ कहते हैं वे वस्तुतः यथास्थिति के समर्थक हैं।'[4] स्पष्ट है कि शिक्षा यदि समाज के विकास का अंग है तो वह राजनीति से तटस्थ नहीं रह

सकती। बल्कि प्रत्येक को इस विकास की भागीदारी के लिए समर्थ बनाना उसका प्रमुख लक्ष्य होगा। समाज के हर भाग को जागरूक और समर्थ बनाना शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण दायित्व है। राजनीति को समझना भी जागना है जैसे अर्थतन्त्र को समझना, मौसम या मनोविज्ञान को समझना। राजनीति के मन और मौसम की जानकारी हुए बिना समाज में परिवर्तन कैसे आएगा? विकास कैसे होगा? शिक्षा का अर्थ ही यही है कि पूरा समाज जागरूक रहे जिसमें व्यक्ति भी शामिल है, नागरिक भी शामिल है और शासक भी।

शासक अपनी सत्ता बनाए रखने के लोभ से भी जागरूक रह सकता है—जैसे चोर रात को जागता है, डाकू बीहड़ों में भी दिन-रात सतर्क व चौकन्ना रहता है—और सदाशयी हुआ तो जन-जन की जागरूकता की चिन्ता करके भी जागरूक रह सकता है। शिक्षा-विज्ञान चारित्रिक गुणों की जो सूची बनाता रहता है वह किसके काम की है? क्या केवल शिक्षक और शिक्षार्थी के? वह भी केवल विद्यालय के भीतर-भीतर? नहीं, वे सभी गुण शासक व्यक्ति में और समाज के अन्य सभी सदस्यों में, जन-जन में, मौजूद रहने चाहिए। हम शिक्षक व शिक्षार्थी से अपेक्षा रखते हैं कि वे शराब न पीयें, क्रोध न करें, ईर्ष्या-द्वेष न रखें, न्यायप्रिय हों, तब शासक-प्रशासक के पद पर बैठने वाला व्यक्ति क्यों शराब पीता है, क्यों क्रोध करता है, क्यों ईर्ष्या-द्वेष रखता है, क्यों अन्याय करता है? 'जस राजा तस प्रजा' वाली सीख क्यों भूल जाता है? शिक्षा जीवन भर जारी रहने वाली प्रक्रिया है। विद्यालय समाज का ही लघु रूप है। वह कोई अलग कालखण्ड नहीं है। शासक और नागरिक दोनों को जीवन भर सीखना है, दोनों को सामाजिक दायित्वों के प्रति जागरूक रहना है।

सत्ता के केन्द्र के इर्द-गिर्द बना रहने वाला सुविधासम्पन्न वर्ग अभी जिस तरह अंग्रेजी को विकास का आधार बताकर शिक्षा प्रणाली पर आरोपित किए हुए है वैसे ही पब्लिक स्कूलों का अस्तित्व तथा प्रमाण-पत्रों का वर्चस्व भी बनाए हुए है। सुविधासम्पन्न वर्ग को प्रमाण-पत्रों से ज्यादा लाभ है क्योंकि समान अवसर का ढिंढोरा पीटता-पीटता वह वर्ग समाज के कमजोर लोगों के बच्चों को, वांछित स्तर के अंक व डिवीजन न होने के कारण, लगातार पीछे ढकेलता रहता है। विकास की कुँजी पर उसी वर्ग का कब्जा बना रहता है। अन्न उगाने वाला भूखा, वस्त्र बनाने वाला निर्वस्त्र तथा घर बनाने वाला बेघर बना रहता है। विषमता व अन्याय मिटाने का नाम लेकर भी यह शिक्षा विषमता बढ़ाती है, अन्याय बढ़ाती है। हम बार-बार संकल्प करते हुए भी आज तक इन प्रमाण-पत्रों का सम्बन्ध नौकरियों से नहीं तोड़ पाए हैं और हर नागरिक को रोजगार और आवास की कोई गारण्टी नहीं दे पाए हैं। यह बीमारी सारे समाज की बीमारी है क्योंकि उस

पर कब्जा उनका है जो कोई फेर-बदल नहीं चाहते। समाज पर कब्जे की बात कक्षाओं में न सिखाने का उपदेश हमारे शिक्षाशास्त्री सत्ता की चाकरी कें वशीभूत होकर बार-बार देते रहते हैं। सत्ताधीश भी विद्यार्थियों से कहते रहते हैं 'राजनीति से दूर रहो', यह नहीं कहते कि 'जागते रहो।' राजनीति को समझना भी जागना है जैसे सुनीति और दुर्नीति को समझना जागना है।

प्रमाण-पत्र प्राप्त होते ही सीखना बन्द करने की बीमारी लग जाती है। समाज का हित चाहने वाले हर व्यक्ति को अपनी इस बीमारी को पहचानना चाहिए। कुर्सी बड़ी नहीं है, आदमी बड़ा है, अनुभव बड़ा है। कुर्सी के बड़ा होने का भ्रम पालने के लिए हम यदि वास्तव में बड़ी कुर्सियाँ लगवाते हैं तो यह हमारी आत्म-प्रवंचना है।[5] बड़े-छोटे का भाव ही बुरा है। यह भाव पैदा करने वाली समाज-प्रणाली तथा शिक्षा प्रणाली ही बुरी है। और इसी भाव के विद्यमान रहने के कारण समाज भी बीमार है और शिक्षा भी बीमार है। समाज पहले बीमार है, शिक्षा बाद में बीमार है। इसलिए शिक्षा को बदल देने से समाज नहीं बदल जाएगा। समाज बदलेगा तब शिक्षा भी बदलेगी। समाज स्वस्थ होगा तब शिक्षा भी स्वस्थ होगी। नार्मन फ्रीडमन ने 'नया शिक्षक टीचर-टुडे' में एक बार लिखा था 'शिक्षा बीमार क्यों है, यह देखना हो तो देखना चाहिए कि समाज बीमार क्यों है।'[6] पावलो फ्रेरे कहते हैं—'शिक्षा प्रणाली जिस समाज प्रणाली की उप-प्रणाली है उस समाज प्रणाली को दुनिया भर में बदले बगैर हम किसी भी शिक्षा प्रणाली का पुनर्निर्माण, पुनर्निरूपण या पुनस्सृजन नहीं कर सकते।'[7] लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हम निष्क्रिय हो जाएँ। इसके दो कारण हैं—1. हम दुनिया की समाज प्रणाली से बाहर नहीं हैं; 2. कोई भी समाज प्रणाली एकाएक नया रूप धर कर फिर हमेशा उस एक रूप में ही नहीं बनी रहती है। इसलिए बड़ी क्रान्तियों के पहले भी और बाद में भी जागरूकता के लिए शिक्षा का सिलसिला जारी रहना चाहिए। हम दुनिया की समाज प्रणाली के ही अंग हैं और हमें इस प्रणाली को बदलने में अपनी-अपनी शक्ति व सामर्थ्य के अनुसार योग देना है। यह एक अनवरत प्रक्रिया है। जो जहाँ भी है उसे इस प्रणाली को बदलने के कारणों व उपायों पर विचार करना चाहिए। अल्पकालिक तथा दीर्घकालिक लक्ष्यों को स्पष्ट करने का, समझने का यत्न करना चाहिए। ज्यों-ज्यों लक्ष्य स्पष्ट होगा त्यों-त्यों उसे प्राप्त करने के प्रयत्न भी होंगे। जो प्रयत्न हुए हैं, होते हैं या होंगे, उनका विश्लेषण विवेचन होगा तो प्रगति और परिवर्तन का रास्ता अधिक साफ होगा।

जैसा कि हमने ऊपर कहा है, शिक्षा की बात करते ही आज्ञापालन की, अनुशासन की बात पहले सामने आती है मानो चुप रहना, आज्ञापालन करना ही शिक्षा का एकमात्र लक्षण हो। चुप रहने का बहुत महत्त्व है। चुप रहे बिना शब्द की

शक्ति न समझ में आ सकती है और न उसका सही उपयोग हो सकता है। समझते हुए वाँछित समय पर चुप रहने से स्नेह, सद्भाव और सम्भ्रम की भी स्थापना और वृद्धि होती है। लेकिन बिना सन्दर्भ के चुप रहना सिखाना इस संकल्पना को खोखला बना देता है, समर्पण की भावना को (कन्फोर्मिटी को) जन्म देता है। ऐसे ही आज्ञापालन और अनुशासन को भी बिना सोचे-समझे आगे रखने से यही नुकसान होता है। विद्यालयों में प्रार्थना का कार्यक्रम इसी कारण इतना भोंडा और फूहड़ होता है। वह भी समर्पण की भावना (कन्फोर्मिटी) उत्पन्न करने के लिए आयोजित होता है। हिन्दी के एक महत्त्वपूर्ण शैक्षिक विचारक कृष्णकुमार ने लिखा है—'बच्चों को समर्पण सिखाना उनके अध्यापकों, और अध्यापकों पर नियन्त्रण रखने वाले अधिकारियों की, सब से गहरी कुण्ठा है। समर्पण की भावना को बच्चे का संस्कार बनाने की जी-तोड़ कोशिश में स्कूल जिन साधनों का प्रयोग करता है, उन्हीं में से एक प्रार्थना है।'[8] प्रार्थनाओं का यह कार्यक्रम धर्म और ईश्वर की कल्पना को भी कीर्तन द्वारा खोखला बना देता है। रस्म के रूप में बिना सोचे समझे होने वाली निरन्तर आवृत्ति अच्छे-से-अच्छे विचार को खोखला और निकम्मा बना सकती है। कृष्णकुमार ने ठीक ही कहा है कि 'प्रार्थना की बुनियाद समाज के प्रति अनास्था है जिससे एक प्रकार की भयत्रस्त व्यक्तिपरकता जन्म लेती है।'[9] प्रार्थना करने वाला एक प्रकार का मनोरोगी नज़र आता है। रुग्ण मनःस्थिति के कारण वह अपनी पीड़ा को बढ़ा-चढ़ा कर पेश करने में ही आनन्द पाता है। पीड़ा निवारण के लिए न समाज की तरफ देखता है और न सरकार की तरफ, सीधे ईश्वर की तरफ देखता है। कल्पना कीजिए इससे कौन-सा चरित्र निर्माण हुआ और कौन-सा समाज निर्माण?

अनुशासन की तरह ही अनुसंधान, नवाचार, प्रशिक्षण, परीक्षा, पाठ्यक्रम, पाठन विधियों और प्रमाणपत्रों में सुधार की चर्चाएँ भी प्रायः ग़लत सन्दर्भों में करके या ग़लत परिप्रेक्ष्यों में रख कर हम उन्हें भी नकली और खोखला बनाते रहते हैं। लोगों को हमने यह भ्रान्ति दे रखी है कि शिक्षा के मूल-चूल ये ही हैं, मुकुट भी ये ही हैं, इन्हें धारण करलो तो तुम राजा हो। वे धारण कर लेते हैं किन्तु राजा नहीं बनते, तब भुनभुनाते हैं, आक्रोश लाते हैं, तोड़-फोड़ करते हैं। अनुशासन, संयम, ब्रह्मचर्य उपयोगी थे, और हैं, किन्तु सन्दर्भ में न रख कर और अनावश्यक अवसर व अनावश्यक सन्दर्भ में की गई आवृत्तियों के कारण प्रभावहीन हो गए। लक्ष्य से जुड़ते तो ऐसा नहीं होता। समाज व व्यक्ति के सही सम्बन्धों से जुड़ते तो ऐसा नहीं होता। समाज व व्यक्ति के सही सम्बन्धों से जुड़ते, श्रम व उत्पादन व वितरण व इनके नियन्त्रण की शक्ति व सत्ता के रहस्य को उभारने की क्रिया से जुड़ते, तो इनकी उपयोगिता की मात्रा व स्वरूप के बारे में हम भ्रान्तियों में नहीं

पड़ते। शिक्षा बीमार इसीलिए है कि हम आँख मूँदे अनेक अनावश्यक कार्यभार ढोते चले जा रहे हैं और सामाजिक परिवर्तन के लिए समाज व व्यक्ति के सही सम्बन्धों पर से रहस्य का पर्दा उठाने वाली प्रक्रिया के निर्माण में नहीं लग रहे हैं। विद्यार्थी, शिक्षक, अभिभावक या समाज को क्या पीड़ा है, खोखले शब्दों, अनावश्यक पाठ्यक्रमों, अनुपयोगी प्रमाण-पत्रों, और निकम्मी पाठ्य-सामग्री से उनका कितना अहित हो रहा है, यह हम गम्भीरता से नहीं सोच रहे हैं। देश, जाति, रंग, धर्म और भाषा की संकीर्णताएँ छोड़ कर मानव मात्र की दृष्टि से प्रचलित पाठ्यक्रमों, प्रविधियों या प्रणालियों पर नहीं सोच रहे हैं। विवेकपूर्ण आलोचना की दृष्टि का विकास ही नहीं कर रहे हैं।

इसका बड़ा उदाहरण तो यह है कि हिन्दी वाङ्मय में शिक्षा पर विवेकपूर्ण आलोचना की दृष्टि से लिखी हुई मुश्किल से पाँच-सात पुस्तकें होंगी। मेरी दृष्टि में तो मात्र दो ही हैं। एक कृष्णकुमार की, जिसे मैंने ऊपर उद्धृत किया है और पाद-टिप्पणी देकर पाठकों का ध्यान उस ओर आकर्षित किया है। दूसरी कमला भसीन की, जो एक प्रशिक्षण कार्यक्रम का प्रतिवेदन होते हुए भी शिक्षा में विवेकपूर्ण आलोचना का एक उत्तम नमूना है। शेष कोई और आपको ध्यान हों तो मार्फत 'शिविरा', बीकानेर, मुझे बता दीजिए। उनको मिला कर पाँच-सात मुश्किल से ही हो पाएँगी। फिर कितनी पत्रिकाएँ हैं हिन्दी में, अंग्रेजी में या अन्य भारतीय भाषाओं में जो हमारी शिक्षा प्रणाली की रुग्णता की जाँच करती हों प्रति माह या प्रति सप्ताह? कितने शिक्षक अपनी डायरियाँ लिखते हैं जो प्रकाशन योग्य हों? जिनमें जीवन को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा गया हो? काम तो कई लोग कर रहे हैं, कई लोग बहुत अच्छा काम भी कर रहे हैं, किन्तु शिक्षा के सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक आदि पहलुओं पर नए सिरे से विचार करके लिखने वाले कितने हैं? निर्भीक आलोचना देने वाली शैक्षिक क्षेत्र के अपने अनुभव लिखने की कला विकसित करने पर कितने लोग ध्यान देते हैं? और ऐसे अनुभव प्रकाशित करने वाले, कितने हैं? वर्तमान प्रणाली पर प्रहार करने वाली हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं की पुस्तकें कितनी हैं? प्रहार हो नहीं रहा है तो ढाँचा कैसे टूटेगा? पीड़ा को पहचाना नहीं तो उपचार कैसे होगा? पीड़ा पहचानने की संवेदना ही पैदा नहीं की तो शिक्षार्थी की जो पीड़ा मोन्तेस्सोरी और गिजुभाई के बाद अभी हाल ही में एस. हैरमन ने 'प्लाइट ऑव् प्युपिल्ज' में व्यक्त की है वह हम कैसे जानेंगे? शिक्षकों की और अभिभावकों की और समाज के दीन-दुःखी शोषित-पीड़ित वर्ग की, पीड़ा को शिक्षा की दृष्टि से कौन मुखरित करेगा?

ये और ऐसे कई और प्रश्न हैं जिन पर हमें विचार करना चाहिए यदि हम चाहते हैं कि समाज के विकास को शिक्षा का सही लाभ मिले और शीघ्र मिले।

अनुभव और पीड़ा और सुझाव सामने आएँगे, संवाद होगा तो शिक्षा भी होगी और सक्रियता भी आएगी और क्रान्तिकारी परिवर्तनों की आधारशिलाएँ भी रखी जाएँगी। समाज को शिक्षा का यह एक बड़ा योग होगा।

सन्दर्भ

1. एस. हैरमन, प्लाइट ऑव् प्युपिल्ज, डीएल पब्लिकेशंज, लन्दन, 1978, पृष्ठ 31
2. नोवोस्ती प्रेस एजेंसी प्रकाशन गृह, मास्को, नोवोस्ती प्रेस एजेंसी वार्षिकी 1980, पृष्ठ 155
3. रजनीश ने किसी भाषण में इस शब्द को केन्द्र बनाकर व्यंग्य किया है कि 'नारायण' बनाएँगे तो दरिद्र कभी ऊँचा नहीं आ सकेगा, आने की इच्छा ही नहीं करेगा, समाज भी चाहेगा कि वह वहीं बना रहे और 'नारायण' कहलाता रहे ताकि उसकी सम्पत्ति का आनन्द, उसके श्रम का लाभ, दूसरे लेते रहें।
4. कमला भसीन, तोड़ना बाधाओं का, राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति, 38 जोबनेर का बाग, जयपुर-6, पृष्ठ 85-86
5. मेरा सुझाव है कि इन कुर्सियों पर एक-एक माह तक कार्यालय के कर्मचारियों को बैठने का अवसर देना चाहिए। फेंकने की बजाय सबको थोड़ा-थोड़ा सुख का अनुभव देना ज्यादा अच्छा है। फिर उनको प्राथमिक व पूर्व प्राथमिक विद्यालयों में भेज देना चाहिए, प्रधानाध्यापक का कमरा सजाने के लिए नहीं, बच्चों के मनोरंजन के लिए। कुर्सी से ध्यान हटाकर काम पर ध्यान लगाने में यह तरीका बहुत उपयोगी रहेगा।
6. नार्मन फ्रीडमन, ह्यूमन वैल्यूज इन एज्यूकेशन, नया शिक्षक/टीचर टुडे, राजस्थान शिक्षा विभाग, बीकानेर, अक्टूबर-दिसम्बर, 73, पृष्ठ 16
7. साइंस फॉर रूरल डिवेलपमेंट, ज़र्मन कृषि संस्थान पो. बा. 68 3430 विट्सहोसेन (प. जर्मनी), (5 मार्च, 1979 में हुई संगोष्ठी का विवरण), पृष्ठ 38
8. कृष्णकुमार, राज, समाज और शिक्षा, मैक्मिलन, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 100
9. वही, पृष्ठ 114

डायरी लेखन से शिक्षा

एक गतिविधि ऐसी है जो शिक्षण-कार्य का अंग भी हो सकती है और सहशैक्षिक गतिविधियों में भी स्थान पा सकती है। एक बात का जरूर ध्यान रखना है कि यह अनिवार्य न बने। इसे स्वैच्छिक रखना बहुत जरूरी है। तभी यह असरकारक बनेगी।

यह गतिविधि है डायरी लेखन। जानते तो होंगे आप सभी लोग पर ध्यान शायद ही कभी दिया हो। ध्यान दीजिए। जरूरी नहीं कि यह काम भाषा-शिक्षक ही करे। भाषा-शिक्षक भी कर सकता है और अन्य विषय-शिक्षक या स्वयं संस्थाप्रधान भी कर सकता है। स्टाफ में तय हो कि कौन शिक्षक अपनी कक्षा को डायरी लेखन की प्रेरणा देगा। या संस्थाप्रधान घोषणा कर सकता है कि निजी अनुभवों को डायरी रूप में लिखना जहाँ एक ओर भाषा विकास में मदद करता है वहाँ वह सोचना भी सिखाता है और अच्छे स्वभाव अपनाने का अभ्यास भी कराता है। इससे चारित्रिक शिक्षा होती है और नैतिक स्तर भी ऊँचा उठता है।

कैसे लिखेंगे डायरी हमारे विद्यार्थी और क्यों लिखेंगे, यह हमें उन्हें समझाना होगा। एक तो यह बताना होगा कि वे जो भी अपने आस-पास देखते हैं वह लिखना है, जो अनुभव करते हैं वह लिखना है और इसलिए लिखना है कि अपने आपको बताना चाहते हैं हम कि हम क्या देख रहे हैं और हम क्या सोच रहे हैं। एक तरह से हम हमारा ही इतिहास लिख रहे हैं। और हम इसलिए भी लिख रहे हैं कि हमें लिखना सीखना है। लिख-लिख कर यह जानना है कि हम कैसा लिख सकते हैं और अपने लिखे को कैसे और अच्छा बना सकते हैं। यह रोज का काम नहीं है। जब मर्जी हो तब करने का काम है।

शिक्षक की भूमिका यही है कि वह विद्यार्थियों में यह मर्जी पैदा करें। उनके सामने यह तथ्य रखें कि वे सभी लेखक हैं और उन्हें अपने निजी जीवन की कहानी एक किताब में उतारनी है। उनका निजी जीवन इस किताब में प्रतिबिम्बित होना है। छोटी-सी कापी से वे यह किताब शुरू कर सकते हैं। इसका नाम रख सकते हैं 'मेरी डायरी' या 'मेरी किताब' या 'मेरी कहानी'। कापी बनाएंगे, कापी पर नाम

लिखेंगे, तब विद्यार्थी की मर्जी बनेगी उसमें कुछ लिखने की। मर्जी बनेगी अपने जीवन की घटनाओं पर नज़र डालने की, उन घटनाओं में से आज के लिए चुनने पर विचार करने की। यह नज़र डालना, चुनना और चुनने के लिए विचार करना ही उसके उस दिन का जरूरी काम हो जाएगा। डायरी का पन्ना उसके जीवन के उन पलों में आश्चर्यजनक चमत्कार पैदा करेगा। वह उस चमत्कार को महसूस करेगा और लिख-लिख कर पुलकित होगा। जरूर प्रसन्न होगा।

हम डॉक्टर हों, इंजीनियर हों, दुकानदार या व्यापारी या उद्योगपति हों, सामाजिक या राजनीतिक कार्यकर्ता हों, नेता हों, सैनिक हों या अधिकारी हों, किसी भी क्षेत्र में हों या किसी भी पद पर हों, चाहे शिक्षक ही क्यों न हों, यदि हम डायरी लिखते हैं तो जरूर प्रसन्न होते होंगे। विद्यार्थी जीवन से यदि हम इसके लाभ को समझ कर डायरी लिखने का अभ्यास डाल सकें तो फिर देखिए कि कैसा आपका चरित्र निखरता है और व्यक्तित्व बनता है। चारित्रिक विकास के लिए और व्यक्तित्व निर्माण के लिए डायरी भी एक उत्तम माध्यम है। हमें विद्यालयों की पाठ्यक्रमेतर प्रवृत्तियों में इसे भी स्थान जरूर देना है।

डायरी लिखना भी एक तरह का पत्र लिखना है। यह पत्र खुद को लिखा जाता है। किसी को कोई पत्र हम कब लिखते हैं? जब कहने को कुछ हो। इसको उलट कर कहें तो यों कहेंगे कि जब पत्र लिखना तय कर लिया तो हम सोचेंगे कि क्या लिखें। यह सोचना भी एक बहुत बड़ा काम है। सोच कर लिखने को कोई प्रसंग ढूँढ़ना पड़ता है। यह प्रसंग ढूँढ़ निकालना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सृजनात्मक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया हमारा व्यक्तित्व बनाती है और हमारे चरित्र को विकसित होने में मदद करती है।

यही हाल डायरी लेखन का है। वह भी सृजनात्मक प्रक्रिया इस अर्थ में है कि वह भी एक पत्र है खुद को, जिसमें लिखने को कोई विषय, कोई मसला-मसाला ढूँढ़ना पड़ता है। बिना प्रसंग क्या लिखेंगे? प्रसंग सोचिए और लिखिए। यह तो तय करना ही है कि लिखना है। तय करेंगे तभी कोई प्रसंग पैदा होगा। एक संस्था ने अपने शिक्षार्थियों में डायरी लेखन का अभ्यास कराने के उद्देश्य से 24 पेजी कापियाँ तैयार कराईं जिनके प्रथम आवरण पृष्ठ पर 'मेरी किताब' शीर्षक दे कर नाम, कक्षा, उम्र आदि अंकित किया तथा आवरण के अन्तिम पृष्ठ पर शीर्षक रूप में सुझावात्मक निर्देश लिखा—

यह आपकी किताब है। आप इसके लेखक हैं। आप इस किताब में कुछ भी लिख सकते हैं। कभी भी लिख सकते हैं।

अग-जग की बातें, दीन दुनिया की बातें, मेरी तेरी उसकी बातें। गाँव की बातें, शहर की बातें, गली-मोहल्ले की बातें, जो सुनी आज या कल। पास-पड़ोस

की बातें जो सुनी थीं आज या कल। बाजार में क्या देखा-सुना, आज या कभी। मन्दिर-मस्जिद में क्या देखा-सुना, आज या कभी। त्योहार कैसे मनाया इस बार। किताब क्या पढ़ी, थोड़ा उसका हाल। किस किताब में क्या पसन्द आया, थोड़ा उसका हाल। नानी-दादी ने जो कहानी सुनाई वह क्या थी। चुटकुला जो पसन्द आया वह क्या था। जो गीत सुना गाँव-गली में वह क्या था। जो गीत सुना त्योहारों पर वह क्या था। पूरा अधूरा जितना भी सम्भव हो। खेलों की बातें—कुश्ती, कबड्डी, गुल्ली-डण्डा, मारदड़ी, फुटबाल आदि। खेतों की बातें—क्या-क्या करते हो वहाँ। पेड़ों की बातें—कैसे-कैसे कितने पेड़ देखे कहाँ कब। घास-फूस की बातें—काम की घास, काम का फूस। काम का कबाड़—कबाड़ के उपयोग। दूध-दही-छाछ की बातें। ढोर-डांगर की बातें। भेड़-बकरी और एवड़ की बातें। गाय-भैंस-बैल की बातें। कविताएँ जो पसन्द आईं। फिल्में जो अच्छी लगीं—थोड़ा हाल। फिल्में जो बिल्कुल पसन्द नहीं आईं—थोड़ा हाल। अच्छे गुरुजी—कैसे अच्छे, क्यों अच्छे। गाँव-शहर के बूढ़े-बुजुर्गों की बातें—कौन क्या कहता है। आप उनकी क्या मदद करते हैं। चिड़ियों की बातें—रूप, रंग, आवाजें। चिड़ियाघर का वर्णन। अजायबघर या म्यूजियम का वर्णन। मित्र, शिक्षक, पड़ोसी, व्यापारी, खिलाड़ी, कुछ भी।

जब भी लिखो, जितना भी लिखो, उस पेज पर तारीख जरूर लिखो।

ऐसे ही आप और भी नए-नए सुझाव दे सकते हैं। जो स्वयं स्वेच्छा से कभी भी कुछ अपनी कापी में डायरी रूप में कुछ लिखने की चेष्टा करेगा उसका भाषा ज्ञान बढ़ेगा, अभिव्यक्ति-शक्ति बढ़ेगी और व्यक्तित्व निर्माण होगा। दुःख भरे दिनों और सुख भरे दिनों का वर्णन करना आ जाएगा।

अमेरिका की एक शिक्षक एरिन ग्रुवेल ने अमेरिकी शहरों के झोंपड़-पट्टी वाले हिंसा व गरीबीग्रस्त इलाकों की स्कूलों में डायरी-लेखन सिखाते-सिखाते छात्र-छात्राओं में ऐसा आत्मविश्वास भरा, ऐसा संस्कार दिया, कि वे उपद्रवी हिंसक स्वभाव छोड़कर सुसंस्कृत नागरिक बन गए और ऊँचे-ऊँचे पदों पर काम करने लायक हो गए। डॉक्टर, इंजीनियर, पायलट, कलाकार व साहित्यकार बन गए। उनके इस प्रयोग को आप उनकी पुस्तक 'फ्रीडम राइटर्स डायरी' (ब्रोडवे बुक्स, न्यू यॉर्क) में विस्तार से पढ़ सकते हैं। उनको उनकी इस सफलता के कारण कई कालेजों व विश्वविद्यालयों से निमन्त्रण मिले और उनके इस चमत्कारी कार्य पर फिल्म भी बनी। मैंने फिल्म से ही इस सम्बन्ध में पहली सूचना पाई और पुस्तक की खोज बाद में कर वह भी मँगवाई।

डायरी लेखन की महत्ता पर ध्यान केन्द्रित कर जो शिक्षक इस विधि का व्यवहार अपनी कक्षाओं में करेंगे वे जरूर इसका लाभकारी प्रभाव देख सकेंगे।

अन्त में दो शब्द स्वयं शिक्षकों की डायरी के लिए। विद्यार्थियों को अभिव्यक्ति का अभ्यास करवाने, उनका स्वभाव बदलने, उन्हें नए संस्कार देने और उनका व्यक्तित्व निर्माण करने में मदद के उद्देश्य से आप उनको डायरी लिखवाते हैं तो आप स्वयं भी डायरी लिख कर अपना खुद का बहुत बड़ा भला कर सकते हैं। फायदा उठा सकते हैं। शिक्षक की एक डायरी स्कूल प्रशासन लिखवाता है। दूसरी डायरी वह निजी लाभ के लिए स्वेच्छा से लिख सकता है। जो भी अनुभव विद्यार्थियों के बीच और स्कूल स्टाफ के बीच उसे होते हैं उन्हें वह समय-समय पर घर की डायरी में लिखता रहे तो उसे भविष्य में बहुत लाभ होगा। व्यक्तित्व बनेगा। चारित्रिक उत्थान होगा। जब भी वह डायरी लिखने बैठेगा उसे सोचना पड़ेगा कि क्या घटना ली जाए और उसे कैसे लिखा जाए। इससे वह चिन्तनशील बनेगा और उसकी लेखन-शैली व भाषा प्रांजल बनेगी। ज्यों ही वह एक-दो पेज लिख लेगा उसे सफलता की अद्‌भुत प्रतीति होगी। लिखना आसान नहीं है। लिखेगा तो जानेगा कि लिखना कितना कठिन है, कितना सरल है और फिर उसे समझ आएगा कि लाभकारी होने के साथ-साथ कितना आनन्ददायक भी है। तब वह खुद को अपने विद्यार्थी की जगह रख कर सोचना सीखेगा। वह इस प्रक्रिया से जो सोचना सीखेगा उससे उसकी सृजनात्मक शक्तियाँ विकसित होंगी। तब वह विद्यार्थी के सृजनात्मक विकास का भी आभास पा सकेगा। विद्यार्थियों का और उसका साथ-साथ विकास होगा। भविष्य में उसकी यह निजी डायरी उसके शैक्षिक चिन्तन की प्रतिरूप पुस्तक का रूप भी ले-ले तो कोई आश्चर्य नहीं।

जल जमुनाजी का पानी रे

मैं जब गाँवों-शहरों की स्कूलों में शिक्षक था तो जो दृश्य वहाँ देखे उनमें नकल की शर्म थी, शंका थी। एक गाँव में शिक्षक था तब मेरे एक पढ़े-लिखे विद्वान् लेखक-मित्र आए और मेरे स्कूल में कोई भाषा-परीक्षा का केन्द्र खुलवा कर उसका जिम्मा मुझे देने का प्रस्ताव लाए। मैं जानता था उन केन्द्रों की हालत। ये केन्द्र न केवल परीक्षा-केन्द्रों पर नकलें करवाते थे बल्कि कहीं-कहीं तो घरों पर भी उत्तर पुस्तिकाएँ भेज दिया करते थे, जहाँ परीक्षार्थी के मित्र-सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर लिख देते थे या लिखवा देते थे। मैंने विनम्रतापूर्वक न केवल उनको मना कर दिया बल्कि उनसे भी अनुरोध किया कि वे इसमें रुचि न लें क्योंकि इन केन्द्रों पर निश्चित तौर से नकलें होती हैं और नकलों को प्रोत्साहन देना न तो शिक्षा है और न ही साहित्य-सेवा। वे बड़े साहित्यकार थे पर मानते नहीं थे कि भाषा का विकास भाषा-प्रयोग से होगा, परीक्षाओं से नहीं।

समय आगे बढ़ा। मैं एक बड़े शहर में पहुँचा। वहाँ की एक स्कूल का अनुभव सुनाऊँ। परीक्षाएँ चल रही थीं दसवीं की और मैं जिस कक्ष में वीक्षण या इन्विजिलेशन कर रहा था उस कक्ष में बड़ी उम्र के कुछ परीक्षार्थी भी बैठे थे, किशोर उम्र के परीक्षार्थियों के बीच। ताक-झाँक करते देखा तो मैं उन्हें टोक चुका था। थोड़ा समय बीता कि मेरे एक शिक्षक मित्र आए और सन्देशा लाए कि अमुक कक्ष में अमुक लोग मुझे दूध पीने को बुला रहे हैं, मैं वहाँ जाऊँ और वे मेरी जगह मेरी ड्यूटी कर लेंगे। मैं भाँप गया। मैंने जाने से मना किया। तो वे कान में कहते हैं—'हमारे ही जाति भाई हैं, नौकरी पक्की हो जाएगी।' अब समझा। तो वे बड़ी उम्र वाले परीक्षार्थी 'शिक्षक' थे। मैंने सन्देशवाहक मित्र के कान में अर्ज कर दिया—'फिर तो इन्हें खुद ही ईमानदारी रखनी चाहिए, हम इन्हें ग़लत रास्ते जाने का मौका क्यों दें?'

एक ऐसी ही घटना एक और शहर की बड़ी स्कूल की थी। स्थानीय परीक्षा की कापी में नम्बर बढ़ाने की। विधायक व निदेशालय से लेकर प्रिंसिपल तक बढ़ाने का इशारा करते नज़र आए। शिक्षा में अशिक्षा की मिलावट को सहमत न होने का वह प्रकरण इतना गम्भीर बन गया कि मुझे जीवन भर का दुःख दे

गया। तार से मेरा ट्रांसफर छह सौ किलोमीटर दूर एक ऐसे गाँव में कर दिया जहाँ कच्ची ईंटों के झोंपड़ों में रहना था। बारिश में झोंपड़े की छत टपकती थी और रातें मूँज की चारपाई पर गुजारनी होती थीं पत्नी-बच्चों समेत। लेकिन वहाँ जितना पढ़ा उतना कहीं नहीं पढ़ा। शिक्षा और साहित्य की पुस्तकों से भरे मेरे पीपे और साहित्यिक पत्रिकाओं से भरा स्कूल का बक्सा। मैं धन्य हुआ।

आज तो मुझे मेरी मौसी याद आती हैं जो मेरी बड़ी माँ भी थीं। हमारे इधर 'ताई' शब्द नहीं है। ताई को 'बड़ी माँ' कहते हैं, सो वह माँ से भी बड़ी थी—'बड़ी माँ' थी और मौसी भी थी और सचमुच हमें माँ से भी अधिक प्यार करती थी। हम दोनों भाइयों को, रमेश को और मुझको, बहुत प्यार करती थी। सो उसकी हर बात हमको बहुत प्यारी लगती थी। जब वह पूजा करने बैठती तो हम सभी बहिन-भाई परसादिया भगत बन कर उसके पास बैठ जाया करते थे। वह गाती थी कई भजन। हमें एक भजन खूब याद रहा—सोने रूपे री झारी मँगा दूँ, भर लावे राधा प्यारी रे, काची रे के रो दाँतण मंगाय दूँ, जळ जमुनाजी रो पाणी रे, खीर खाँड रो अमरित भोजन जीमावे जसोदा माई रे...। कृष्ण और राधा की एक बड़ी रंगीन तसवीर वह मोमाई (मुम्बई) से लाई थी। वह मैंने आज भी सम्हाल कर रखी है। ताऊजी और ताईजी 'अखिलम् मधुरम्' के साक्षात् स्वरूप थे। उनके कोई सन्तान नहीं हुई। हम सभी भाई-बहिन को वे अपनी संतान मानते थे। ताऊजी का गीता और विष्णुसहस्रनाम पढ़ना और ताईजी का 'जळ जमुनाजी रो पाणी' भजन गाना हमारे कानों में रस घोलता था। कितनी जीवनी शक्ति थी इन दोनों के इस पाठ में और इस भजन में। याद कर कर के हमारे रोम-रोम में जाने कितनी अच्छी बातें, सुंदर बातें, मधुर बातें गुँजायमान होती रहती हैं। दोनों गए, किन्तु हमारा जीवन शिक्षा, साहित्य और संगीत से लबालब कर गए। दो मीठे बोल थी उनकी शिक्षा, दो सुन्दर शब्द थे उनका साहित्य और राधा-कृष्ण की तसवीर तथा 'घुटरन चलत' बालकृष्णलाल की छोटी-सी मूर्ति के आगे तन्मय होकर गाए भजन के दो स्वर थे उनका अमर संगीत—सोने रूपे री झारी मंगा दूँ, भर लावे राधा प्यारी रे... जळ जमुनाजी रो पाणी रे...। 'जल' शब्द द्योतक है उस पानी का जो प्रामाणिकता, शुद्धता और स्तरीयता से परिपूर्ण हो। 'जळ जमुनाजी रो पाणी रे' कहा तो इस अर्थ में कहा कि, हे भगवान, मैं आपके लिए उस पानी की झारी लाई हूँ जो शुद्ध है, प्रामाणिक है, स्तरीय है इस कारण 'जल' है। कहते हैं कि देश के कई भागों में 'पानी' पिलाना या देना अशुद्ध-अशुभ प्रयोग माना जाता है और 'जल' शब्द का प्रयोग शुद्ध-शुभ मानते हैं।

आज को देखो और जो बीता उस कल को देखो। यह जीवन स्वच्छ-मधुर कैसे बनता है, कैसे बनेगा, यह भी सोचो। इसी का चिन्तन हमारी सतत अनवरत

जीवन-पर्यन्त शिक्षा है। साहित्य और संगीत हमारे जीवन में किसी तरह किंचित् किंचित् स्थान पाता रहे तो हमारा जीवन हरा-भरा बना रहेगा।

मैं समय-समय पर पिछले अखबारों का ढेर लेकर बैठ जाता हूँ। एक बार पढ़कर फेंक नहीं देता हूँ। सवेरे आज के दैनिक (कई हिन्दी और कई अंग्रेजी) पढ़ता हूँ और दोपहर साल भर की ढेरियाँ, चार-छह माह की ढेरियाँ, कभी किसी की और कभी किसी की, लेता हूँ और खूब उलट-पुलट कर आनन्द प्राप्त करता हूँ।

उसी सन्दर्भ से नकल के प्रसंग की एक कथा आपको आज सुनाता हूँ।

एक अखबार का पृष्ठ खुला। सब से ऊपर तीन कालम का शीर्षक था—'सीवरेज ट्रीटमेंट प्लांट दो साल से बन्द, गन्दा पानी यमुना में', और इस खबर के बाद थोड़ा नीचे चार कालम का शीर्षक था—'संयुक्त शिक्षा निदेशक की आखिर बलि ले ली नकल माफिया ने'। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक भी कभी संयुक्त शिक्षा निदेशक था। अब बताओ इस 'भूत' हुए 'पूर्व' संयुक्त शिक्षा निदेशक को नकल की चिन्ता सताएगी कि नहीं? वे दिन याद आएँगे कि नहीं? बदन में सिहरन दौड़ेगी कि नहीं?

मुझे याद आया। कभी राजस्थान राज्य के तमाम पुस्तकालयों को मैं देखता था। पुस्तकों में, पुस्तकालयों में, शिक्षा में और साहित्य में, होश सम्हाला तब से मेरी गहरी रुचि है। तब भी थी। सो मैंने मेरे दफ्तर से पूछा कि राज्य के सहायता प्राप्त पुस्तकालयों का मेरी इस कुर्सी ने क्या कभी निरीक्षण किया है, मूल्यांकन-पुनर्मूल्यांकन किया है? दफ्तर बोला, 33 साल पहले हुआ था। मैंने सरकार से कहा, सरकार ने स्वीकृति दी, और मैं विधिवत् टीम बना कर चल पड़ा पूरे राज्य का ओर-छोर सम्हालने। उस वक्त का यह अनुभव है। सुनिए।

एक शहर में एक स्वयंसेवी संस्था का निरीक्षण किया जो भाषा और साहित्य की सेवा करती है और पुस्तकालय भी चलाती है। निस्सन्देह पुस्तकालय भी समाज में भाषा और साहित्य की चेतना के विकास का अच्छा साधन है। पुस्तकालय और संस्था के भवन का निरीक्षण करते हुए जब हम एक कमरे से दूसरे कमरे में गए तो बीच में एक हॉल पड़ता था। वह पूरा हॉल परीक्षार्थियों से भरा हुआ था। नियमानुसार डेस्कें दूर-दूर थीं। भाषा-साहित्य सम्बन्धी ही कोई परीक्षा होगी। हमने परीक्षा का नाम नहीं पूछा। संस्था के पदाधिकारियों ने जो कहा वह सुन लिया। उन्होंने बताया होगा क्या परीक्षा हो रही थी और यह भी बताया होगा कि उनकी संस्था के काम में पुस्तकालय के संचालन के अलावा यह समाज-सेवा उर्फ साहित्य-सेवा अर्थात् भाषा-सेवा भी शामिल है। जो कहा हो, मेरी पूरी टीम

उन परीक्षार्थियों के बीच से गुज़री। हमारी टीम में तीन सदस्य थे—एक स्टेट लाइब्रेरियन, एक उधर का जिला शिक्षा अधिकारी और एक मैं स्वयं—उपनिदेशक समाज शिक्षा। लगभग सभी परीक्षार्थी नकलें कर रहे थे अपनी-अपनी सामग्री से। हम बिना एक शब्द बोले उनके बीच से निकल गए और अगले कमरे में जा कर पुस्तकालय निरीक्षण का काम करने लगे। पुस्तकालय बहुत पुराना है। मूल्यवान पुस्तकों का अनमोल अच्छा संग्रह है और पाठक खूब आते हैं। लेकिन थोक के भाव यों जो नकल देखी थी उससे मेरा जो अन्तःकरण व्यथित हुआ वह आज भी हो रहा है। आज प्रसंग आया है तो आपसे कहा है।

न भी कहता पर जब देखता हूँ कि यह प्रवृत्ति घट नहीं रही, बढ़ रही है तो विवश होता हूँ कहने को। आप जैसा रुचिवान पाठक-श्रोता देखता हूँ तो कहता हूँ कि भाई सम्हालो, रोको, यमुना का पानी गन्दा हो रहा है, संयुक्त शिक्षा निदेशक की बलि चढ़ रही है नकल पर। न गंगा-यमुना को गन्दा होने दो और न शिक्षा की ज्योति में तमस का प्रवेश होने दो। कैसा अद्भुत संयोग है कि दोनों खबरें एक ही पृष्ठ पर छपी हैं। एक खबर कहती है—'यमुना को स्वच्छ रखने के लिए जापान की सहायता से यमुना एक्शन प्लान के तहत एक प्लांट लगा था। इसके अनुसार शहर का सारा गन्दा पानी साफ करके ही यमुना में डाला जाना था। अमुक ने यह प्लांट पूर्व नगरपालिकाध्यक्ष अमुक को एक भव्य समारोह में सौंपा था। इस सीवरेज ट्रीटमेंट प्लांट से साफ होकर पानी यमुना में जाता था। दो साल से यह बन्द पड़ा है। और सारा गन्दा पानी सीधे ही यमुना में जा रहा है।'

दूसरी खबर कहती है—'संयुक्त शिक्षा निदेशक की आखिर बलि ले ली नकल माफिया ने। अमुक नकल माफिया और संयुक्त शिक्षा निदेशक के बीच बीते नौ महीने से चल रहे टकराव में नकल माफिया ने संयुक्त शिक्षा निदेशक अमुकजी को निलम्बित करा कर अपना दबदबा कायम कर लिया है।' (जनसत्ता, 9 दिसम्बर, 2007, पृष्ठ 4)

कठिनाइयाँ होंगी किन्तु यमुना का पानी गन्दा न रहे और नकल कराने की प्रवृत्ति का विद्या केन्द्रों में प्रवेश न हो, यह तो हमारा एक सर्वसम्मत संकल्प होना ही चाहिए। क्यों हम खुद पर काबू नहीं रख पाते हैं? यह कैसा समय आया है?

समय तो आया है तभी तो गंगा-यमुना को गन्दा न करने की योजना वर्षों तक हवा खाने लगती है और शिक्षक, विद्वान् तथा समाज-सेवी नकल करने-कराने में सहज ही सम्मिलित होने लगते हैं। भ्रष्ट आचरण की सीमाओं का अब कोई अन्त न रहा। कुछ लोग कहते हैं उनका शिक्षाधिकारी जब भी निरीक्षण करने आता, कहता—बढ़िया साबुन, बढ़िया तेल ला दो। ला देते विद्यालय वाले। कोई शिक्षाधिकारी कहता—मेरी कार में तेल की टंकी फुल करवा दो, टायर डलवा दो।

संस्थाप्रधान बेचारा क्या करता, जो कहा जाता सब करवाता। संस्थाप्रधान भी एक जैसे नहीं होते। एक संस्थाप्रधान ऐसे देखे जो हर व्यापारी-दुकानदार से तो चौथ वसूलते ही, हर शिक्षक से भी हर बिल (मेडिकल आदि) पर दस रुपए वसूल करना अपना परम धर्म समझते। याद रहे, तब घी था पाँच रुपए किलो।

सोचो, गंगा-यमुना कितनी गन्दी होती जा रही है? कहाँ है गंगा-यमुना और शिक्षा का, समाज का, ट्रीटमेंट प्लांट? व्यक्ति क्या उपाय करेगा? समाज क्या उपाय करेगा?

मेरी मौसी उर्फ बड़ी माँ तो गाती थी कि वह सोने-चाँदी की झारी में अपने कृष्ण-कन्हैया को यमुना का पानी ला कर पीने को देगी, जो स्वच्छ, शुद्ध और पवित्र होने के कारण 'जल' कहा जाएगा, लेकिन समाज और शिक्षा की गंगा-यमुना जब इतनी गन्दी हो चुकी हो तो वह उस भजन को गा कर क्या करे? अपनी झारी में यमुना का यह पानी ला कर वह क्या करे?

यमुना का यह पानी स्वच्छ और मधुर, पवित्र और शुद्ध, 'जल' बने, तो कितना अच्छा हो!

'लोक जुम्बिश' अभियान

राजस्थान की लोक जुम्बिश परियोजना शिक्षा के क्षेत्र में एक अद्वितीय परिवर्तनकारी कदम था। शिक्षा में आमूल परिवर्तन की माँग कई बार कई लोग कर चुके हैं लेकिन लोक जुम्बिश जैसे व्यापक और गम्भीर प्रयत्न किसी भी राज्य में किसी भी सरकार द्वारा नहीं हुए। ऐसा स्वरूप, ऐसा लक्ष्य और ऐसी प्रक्रियाएँ भी पहले कहीं देखने में नहीं आईं। इस परियोजना की एक उल्लेखनीय विशेषता और अद्वितीयता यह रही कि भारत सरकार और राजस्थान सरकार के समर्थन से यह परियोजना स्वतन्त्र और स्वायत्त रही। विडम्बना की बात यह है इसी परियोजना के प्रति राजस्थान सरकार ने ऐसा रुख अपना लिया जिसने इस परियोजना की इतिश्री कर डाली।

जून, 1992 में एक लोक आन्दोलन के रूप में प्राथमिक शिक्षा का तेजी से सार्वजनीकरण करने के लिए लोक जुम्बिश परिषद् की स्थापना की गई थी। इसका गठन जिनके नेतृत्व में हुआ था वे श्री अनिल बोर्दिया अच्छे प्रशासक रहे, साक्षरता और प्रौढ़ शिक्षा के प्रसार में उनका भारी योगदान रहा। नई शिक्षा नीति, साक्षरता मिशन और ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड के वे जनक रहे। देश में व्यापक प्रसार वाली दो सरकारी शैक्षिक पत्रिकाओं—शिविरा पत्रिका तथा नया शिक्षक/टीचर टुडे—को नितान्त ग़ैर सरकारी स्तर की स्वतन्त्रता, स्वायत्तता, निर्भीकता व शक्ति-समर्थन देने वाले वे देश के पहले शिक्षाधिकारी रहे। कनाडा, पेरिस, हैम्बर्ग तथा जिनेवा की अन्तरराष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं से वे बरसों जुड़े रहे और पेरिस में यूनेस्को के अन्तरराष्ट्रीय शैक्षिक नियोजन संस्थान में शिक्षण किया। शिक्षा पर गम्भीर लेखन किया, पुस्तकें लिखीं, और इन सब के कारण देश-विदेश में एक अनुभवी विचारशील निर्भीक शिक्षामर्मज्ञ के रूप में अच्छी ख्याति पाई। सन् 1965 से मैंने उनको निकट से देखा। नए-नए शिक्षा सम्बन्धी विचारों को जानने की इच्छा व उन विचारों को अपना सकने वाली ग्रहणशीलता और इसके साथ दृढ़ प्रशासनिक कुशलता जो इनमें थी, वह किसी अन्य आई.ए.एस. अधिकारी में शायद ही मिलेगी।

श्री बोर्दिया ने कुछ चुने हुए शिक्षा-प्रेमी साथ लिए; सरकार के भीतर ही ग़ैर सरकारी तरीके से काम करने वाली एक स्वतन्त्र और स्वायत्त संस्था लोक जुम्बिश

परिषद् बनाई और प्राथमिक शिक्षा के विकेन्द्रीकृत तीव्र प्रसार में लग गए। उन्होंने जिस सूझ-बूझ से तथा जिस निःस्वार्थ और गम्भीर तरीके से काम किया उसे न तो भारतीय प्रशासन सेवा अधिकारी का काम कह सकते हैं और न सेवानिवृत्ति का शगल कह सकते हैं। काम देखना ही नहीं हो तो बात अलग है, फिर तो कुछ भी कह लें।

प्राथमिक शिक्षा के तीव्र प्रसार के लिए, शिक्षा से वंचित रहे बच्चों की शिक्षा के लिए, बालिकाओं की शिक्षा पर विशेष बल के लिए, विद्यालय आए बच्चों के ठहराव के लिए, और महिलाओं को समाज में बराबरी का दर्जा दिलाने के लिए, कई उपाय किए गए—ऐसे उपाय जिनका परम्परागत औपचारिक प्रणाली में कोई स्थान नहीं था। अनौपचारिक तरीकों को औपचारिक प्रणाली के बराबर दर्जा दिलाने के लिए अनौपचारिक शिक्षा को लोक जुम्बिश में 'सहज शिक्षा' कहा जाने लगा। देश के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री श्री दयालचन्द्र सोनी के सुझाव से अपनाए गए इस नए प्रयोग के शब्द 'सहज' का नवोत्पन्न तकनीकी भाव यह था कि अनौपचारिक और औपचारिक शिक्षा सहजात (सह+ज) हैं, एक ही स्रोत से—एक-सी सत्ता, शक्ति और महत्त्व लिए हुए—एक साथ (सह+ज) इनका जन्म हुआ है। इसलिए इन में ग़ैरबराबरी क्यों हो? बराबर का महत्त्व रखती हैं। स्थानीय आवश्यकताओं और सुविधाओं के अनुसार अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र खोले गए। लोक जुम्बिश में इन्हें 'सहज शिक्षा केन्द्र' कहा गया। ऐसे 3,600 केन्द्र चले। लोक जुम्बिश का 8,675 गाँवों में कार्य हुआ।

लोक जुम्बिश परियोजना ने जो लक्ष्य अपने सामने रखे थे वे संक्षेप में यों हैं—पाँच से चौदह वर्ष के बच्चों को प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराना, सम्भव हो तो विद्यालयों में ला कर अन्यथा अनौपचारिक शिक्षा के सहज केन्द्रों से; प्राथमिक विद्यालयों या सहज शिक्षा केन्द्रों पर आए बच्चों के ठहराव को पक्का करने के उपाय करते रहना; शिक्षा के गुणात्मक स्तर में सुधार के उपाय करना—सक्रिय बालकेन्द्रित शिक्षण पर बल दे कर, सीखने का न्यूनतम स्तर स्पष्ट तय करके आदि, और निरन्तर विचार जारी रखकर; ऐसी प्रक्रियाओं व उपायों का निर्माण करना जो महिलाओं को शक्ति दे सकें और इसके फलस्वरूप उन्हें समाज में समानता दिलाने में शिक्षा एक अच्छा कारगर साधन बन सके; बालक-बालिकाओं के बीच, सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से पिछड़े लोगों व समृद्ध लोगों के बीच, और विकलांग बच्चों व अन्य बच्चों के बीच, बराबरी का सम्बन्ध बनाना; शिक्षा की विषयवस्तु व प्रक्रिया में ऐसे सुधार करना कि वह समाज व पर्यावरण से जुड़ सके और लोगों के काम-काज, जीवन तथा संस्कृति से जुड़ सके। इन सबके साथ सबसे बड़ा मूल आधारभूत लक्ष्य यह था कि व्यापक जन-समुदाय अर्थात् लोग स्वयं, ठेठ गाँव-ढाणी तक, अपने बच्चों की

शिक्षा आप करें—इसके प्रबन्ध, प्रक्रिया और नियोजन के स्वयं सक्रिय सहभागी बनें। जन-सहभागिता, विकेन्द्रीकरण, महिलाओं की पुरुषों से बराबरी (जेंडर समानता), शिक्षकों की गरिमा व गुणवत्ता, लोक जुम्बिश का मुख्य कार्यक्षेत्र रहा। जनसहभागिता इसकी हर गतिविधि के मूल केन्द्र में उपस्थित रही। मानवीय संवेदनशीलता को इसकी कार्यविधि में सर्वोच्च प्राथमिकता मिली। सभी को अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा व शक्ति के उपयोग का अवसर मिला और निरन्तर कार्य की समीक्षा व मूल्यांकन होता रहे यह भी लोक जुम्बिश की कार्य-प्रणाली का अभिन्न अंग रहा।

शुरुआत के पहले फेज में 25 विकास खण्डों में कार्य प्रारम्भ किया गया। उस दौरान जो प्रक्रियाएँ व कार्य विकसित हुए वे लोक जुम्बिश की सशक्त धुरी बने, जैसे शाला मानचित्रण, प्रेरक दल, महिला समूह, पाठ्यक्रम व पाठ्यपुस्तकों का पुनर्निर्माण, शिक्षकों के प्रशिक्षण की नई प्रणाली, राज्य स्तर पर स्वतन्त्र व स्वायत्त संगठन का निर्माण, विकास खण्ड एवं संकुल (दस-बीस गाँवों के समूह की, सबसे छोटी इकाई) स्तर पर निष्ठावान प्रतिबद्ध कार्यकर्ताओं के समूह (काडर) का निर्माण, स्थानीय लोगों से भवन निर्माण समितियों का गठन जो मरम्मत आदि के कार्य को पर्याप्त गुणवत्ता व पारदर्शिता के साथ करें, और नियमित कार्य-समीक्षा व आगे का विचार (नियोजन) करते रहने की प्रणाली द्वारा स्वतः आत्म-मूल्यांकन की एक साफ-सुथरी संस्थागत सुबद्ध व्यवस्था।

पहला फेज जून 9 में प्रारम्भ हुआ। सीडा (स्वीडन की एक संस्था), भारत सरकार व राजस्थान सरकार का 3:2:1 के अनुपात में आर्थिक योगदान आधार बना। यह फेज दो साल चला। दूसरा फेज जुलाई 95 से 30 जून 98 तक का था। पहले फेज में 25 विकास खण्डों में कार्य प्रारम्भ हुआ, दूसरे फेज में 50 विकास खण्ड और लिए गए। कुल 75 विकास खण्डों की एक करोड़ बीस लाख की जनसंख्या के बीच इन पाँच वर्षों में लोक जुम्बिश ने कार्य किया। तीसरा फेज 1 जुलाई, 1998 से प्रारम्भ होना था किन्तु पोकरण विस्फोट के कारण सीडा ने हाथ खींच लिए। जब तक तीसरा फेज प्रारम्भ न हो तब तक का सीडा ने 50% और शेष भारत सरकार व राजस्थान सरकार ने वित्तीय भार लिया, किन्तु ढुलमुल नीति व कच्चे वित्तीय प्रावधानों से सब-कुछ अधरझूल में रहा।

जितना कार्य हुआ उसका बाहर की कई संस्थाओं ने मूल्यांकन किया जैसे पेरिस की यूनेस्को इन्स्टीट्यूट फॉर एज्यूकेशनल प्लैनिंग (UIEP) और भारत सरकार द्वारा संचालित दिल्ली की नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ एज्यूकेशनल प्लैनिंग (NIEPA), टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज (TISS) मुम्बई, तथा ऑपरेशन्स रिसर्च ग्रुप (ORG) ने, और इन सभी ने लोक जुम्बिश के कार्यों पर सन्तोष व्यक्त किया, उत्कृष्ट और अनुकरणीय बताया।

शिक्षा के काम-काज को सरकारी ढंग से चलाने की हमें पुरानी आदत पड़ी हुई है। सरकारी ढंग यह कि जो सत्ता में है वह शिक्षा संस्थाओं के विषय में या अध्यापकों के विषय में ऊपर कोई भी निर्णय ले उसको कोई पूछने वाला नहीं। सरकारी कार्य है तो स्कूलें खोलने से लेकर अध्यापकों के पदों के सृजन तक अड़चनें ही अड़चनें। कभी नौकरशाही का कठमुल्लापन, तो कभी राजनीतिक नेताओं की अज्ञान, अनुभवहीनता और अहंकार से भरी दखलंदाजी। अनुभव से या आजू-बाजू देख कर दोनों सीख सकते हैं, लेकिन सीखते नहीं। सीखें क्यों? सिखाएँगे। विनयपूर्वक शिक्षा तत्त्व के पास भी नहीं फटकेंगे फिर भी शिक्षा के रंग-रूप पर आधिकारिक दंभ से भाषण देंगे। सरकारी ढंग यह कि विद्यालयों में विद्यार्थियों के ठहराव का कोई वातावरण नहीं, कोई प्रयत्न नहीं। जो विद्यालय छोड़ गए उनकी कोई चिन्ता नहीं। जो आ नहीं पाए उनको लाने की कोई दृष्टि नहीं। उन दोनों के लिए कोई विशेष उपाय करने की कोई कोशिश नहीं। स्थानीय परिस्थितियों में किसकी क्या कठिनाई है यह देखने को वर्षों में भी कोई उपलब्ध नहीं। कठिनाई ज्ञात हो भी जाए तो निवारण का निर्णय राज्य सरकार से होने तक बाबूपंथी मनोवृत्ति व लालफीताशाही प्रक्रिया की पचास बाधाएँ।

लोक जुम्बिश परिषद् का निर्माण सरकार के भीतर ही एक स्वायत्त संस्था के रूप में हुआ था तो जरूर इसीलिए हुआ था कि इसे परम्परागत सरकारी दृष्टि से नहीं देखा जाए। नई सरकार ने आते ही इसे जर्जरित सड़ी-गली सरकारी दृष्टि से देखना शुरू कर दिया, लालफीताशाही के नागपाश (या नागफाँस!) में लपेटना शुरू कर दिया। शिक्षा को शीघ्र से शीघ्र गाँव-गाँव व ढाणी-ढाणी पहुँचाने के लिए इस संस्था को जो स्वतन्त्रता दी गई थी और जो अधिकार दिए गए थे वे सब नई सरकार की आँख की किरकिरी बन गए। लोक जुम्बिश परिषद् ने सरकारी और राजनीतिक दबावों से दूर रहने का उपाय पहले किया था। वित्त, प्रशासन व सभी प्रकार के कार्यों के लिए परिषद् को पूर्णतया स्वतन्त्र रखा था। राज्य सरकार के तमाम जरूरी-जरूरी अधिकार एक खण्डस्तरीय समिति को सौंपे थे जो प्राथमिक विद्यालय, अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र (सहज शिक्षा केन्द्र), अध्यापकों के पद सृजन आदि सभी जरूरी कार्यों के सम्बन्ध में निश्चित मानदण्डों के अनुसार अन्तिम निर्णय लेने को सक्षम थी। स्थानीय प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं का दल (प्रेरक दल) पूरे गाँव के एक-एक घर का सर्वेक्षण करके और इस सर्वेक्षण के आधार पर गाँव का नज़री नक्शा बना के प्रस्ताव बनाता था। इस प्रस्ताव को खुली ग्राम-सभा में रखा जाता था। सभी ग्रामवासी इसमें सम्मिलित होते थे। कितने लड़के-लड़कियाँ विद्यालय जाने वाले और नहीं जाने वाले हैं, कितनी दूरी पर कौन (चारों दिशाओं में) विद्यालय उपलब्ध है और कब किस गाँव या किस ढाणी में कैसा

विद्यालय—प्राथमिक विद्यालय या सहज शिक्षा केन्द्र—खोलना है यह ग्राम-सभा में तय होता था। जगह-जमीन का और भवन-झोंपड़े का निर्णय भी वहीं होता था। जनसहयोग से इसका प्रबंध गाँव करता था। सहज शिक्षा केन्द्र हो तो गाँव में ही यह तय होता था कि कौन स्थानीय अध्यापक वहाँ पढ़ा सकेगा। प्रस्ताव वहाँ पारित होता था और उस पर अन्तिम निर्णय की मुहर अगले ही पड़ाव पर खण्डस्तरीय शिक्षा प्रबंधन समिति (KSPS) में लग जाती थी। केन्द्र या विद्यालय खुल जाता, शिक्षक आ जाता।

खण्डस्तरीय शिक्षा प्रबंधन समिति (KSPS) को राज्य सरकार तक के पूरे अधिकार थे। वह उसके समकक्ष सक्षम थी। वह एक तरह से शिक्षा की पूर्ण प्राधिकृत पंचायत थी। इसमें विकास खण्ड की पंचायत समिति के चार अधिकारी तो सदस्य होते ही थे—प्रधान, उपप्रधान, विकास अधिकारी और एस.डी.आई.—साथ ही दो जिला शिक्षा अधिकारी (बालक व बालिका दोनों), शिक्षक संघों के दो प्रतिनिधि, जिन स्वैच्छिक संस्थाओं को संकुल (ग्राम समूह) सौंपे हुए थे उनके प्रतिनिधि, और संकुल प्रभारी (सभी) और परियोजना अधिकारी स्वयं, महिला कार्यकर्ता, हर संकुल से कोई एक महिला प्रतिनिधि आदि और भी सदस्य होते थे। इसका अध्यक्ष कोई अनुभवी शिक्षाविद् या बुजुर्ग प्रतिष्ठित व्यक्ति होता था। ये शिक्षा-पंचायतें और ग्राम-सभाएँ जिन शक्तियों पर स्वामित्व रखती थीं वे किसी भी कच्चे राजनेता के लिए घोर ईर्ष्या का विषय हो सकती थीं। असल में ईर्ष्या का विषय यह था नहीं, गर्व और कार्य का विषय था। गाँव में किसी भी दल के स्थानीय कार्यकर्ता या नेता प्रेरक दल के सदस्य हो सकते थे, सर्वेक्षण कार्य में, नज़री नक्शा बनाने में, गाँव की शिक्षा की जरूरतों पर विचार करने में और विद्यालयों या सहज शिक्षा केन्द्रों के प्रस्ताव बनाने में सहभागी हो सकते थे। यहाँ प्रतिद्वन्द्विता की बजाय परस्पर सहयोग, समझ और विचार की जरूरत ज्यादा होती थी। सोच-विचार के बाद निर्णय किया और काम हुआ। काम कल ही होने वाला है यह सब को पता होता था। प्रक्रिया की इस पारदर्शिता के कारण बाहर की राजनीतिक दखलंदाजी या बाहुबल के प्रदर्शन को अवसर नहीं रहता था।

यह गाँव के लिए खुशी की बात थी लेकिन सत्ता और शक्ति की कामना रखने वाले कुछ लोगों के लिए यह कष्ट की बात भी थी। ग्रामवासियों को घर बैठे सरलता से और शीघ्र शिक्षा उपलब्ध हो रही थी बिना बिचौलियों के तो उनके लिए तो यह सच्चा लोकतन्त्र, सच्चा पंचायती राज था।

साफ है कि लोक जुम्बिश के इस लोक अभियान से गाँव की शक्ति बढ़ी, जन-जन को सुविधा हुई और सुख मिला।

शिक्षा को जीवन से यों मत जोड़िये

शिक्षा जीवन का अभिन्न अंग है, इसे हम नहीं भूल सकते। शिक्षा सार्थक भी तभी होगी जब वह जीवन को मंगलमय बनाने के अपने लक्ष्य को सदैव सामने रखेगी। शिक्षा जीवन की मात्र तैयारी नहीं है प्रत्युत यह जीवन भर चलती है, यह भी हम जानते हैं। यही कारण है कि अनवरत शिक्षा और जीवन-पर्यन्त शिक्षा का सिद्धान्त प्रतिपादन करने वालों की सदुद्देश्यता से भी हम इनकार नहीं करना चाहते। किन्तु इसके बावजूद भी इस समस्या का एक पहलू ऐसा है जहाँ हमें कहना होगा—शिक्षा को जीवन से यों मत जोड़िये।

'शिक्षा को जीवन से जोड़िये, अन्यथा वह निरर्थक हो जाएगी'—'शिक्षा को जीवन से मत जोड़िये, वह निरर्थक हो जाएगी'—ये दो भिन्न तथ्य हैं। इन्हें ठीक से समझना होगा क्योंकि दोनों ही सही हैं और दोनों को यथास्थान समुचित सन्दर्भ में सही-सही न देख सकने के कारण ही मतिभ्रम उत्पन्न होता है।

यह बिल्कुल सत्य है कि शिक्षा ऐसी दी जानी चाहिए जो जीवन को समृद्ध बनाए। इसके लिए पाठ्यक्रम की सामग्री की पड़ताल की जा सकती है, शिक्षक की योग्यता पर ध्यान दिया जा सकता है और सामाजिक वातावरण को शिक्षाप्रद बनाए जाने की भी चेष्टा हो सकती है। समृद्ध जीवन के लिए पैसा भी प्रमुख है और सही जीवन-दृष्टि भी। समृद्ध जीवन के लिए सभ्य, सुसंस्कृत आचरण भी आवश्यक है और सुसंस्कृत आचरण पर बल देने से क्या पैसा कमाने योग्य व्यक्ति का निर्माण नहीं हो सकेगा, यह प्रश्न भी विचारणीय है। पर जो भी हो, पाठ्यक्रम और पाठन-विधि में यथार्थ और आदर्श का समन्वय बिठा कर उसे जीवन से जोड़ने का जो प्रयत्न होता है वह एक अलग विषय है। उसे ध्यान में रखते हुए ही हमें यह भी ध्यान देना है कि कहां हमें शिक्षा को जीवन से अलग रखना है।

सर्व सेवा संघ वाराणसी से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'नई तालीम' के फरवरी, 72 के सम्पादकीय में इसी प्रश्न पर ध्यान देते हुए जो लिखा गया है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। परीक्षाओं के कारण अध्यापक वर्ग ही नहीं कुलपतियों तक को होने वाली परेशानी को ध्यान में रखकर और परीक्षा भवन में नकल के लिए

हिंसा पर उतारू परीक्षार्थियों द्वारा न केवल छुरे बल्कि अलसेशियन लेकर आने की घटनाओं का उल्लेख करके इस सम्पादकीय में सुझाव दिया गया है कि आज हर नौकरी के लिए पासपोर्ट के रूप में परीक्षा के जिस प्रमाण-पत्र की आवश्यकता होती है, उसका नौकरी से सम्बन्ध-विच्छेद कर दीजिये। सम्पादकीय का सुझाव है कि वास्तव में यदि हमें परीक्षा के भ्रष्टाचार को समाप्त करना है तो प्रमाण-पत्र में उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण या श्रेणियों का उल्लेख बन्द कर देना होगा। जिसको नौकरी देनी है वह नौकरी चाहने वालों की परीक्षाएँ खुद ले लेगा।

सम्पादकीय में लिखा है—श्री बंशीधर श्रीवास्तव ने, जिनकी गणना शिक्षा जगत् के चोटी के शिक्षाविदों में होती है, इतने बड़े सामाजिक कार्यकर्ता और शिक्षा विचारक को ऐसा आक्रोशपूर्ण वक्तव्य देना पड़ा यह देश के लिए कम चिन्ताजनक नहीं है। कभी दिल्ली, कभी कोलकाता और कभी बनारस, आगरा, जोधपुर, बेंगलुरु या उदयपुर, कभी कहीं, कभी कहीं, कुछ-न-कुछ अशोभनीय घटनाओं के समाचार हर दिशा से प्रायः रोज ही आते रहते हैं। आखिर कब तक शिक्षा जगत् ऐसे काण्ड देखता रह सकता है। 'नई तालीम' के सम्पादकीय का कहना शत-प्रतिशत उचित है कि प्रमाण-पत्रों का नौकरियों से सम्बन्ध-विच्छेद कर दीजिये। मूल-ग्रन्थि यही है। 'इसे सुलझा दीजिये, काट दीजिये तो शेष ग्रन्थियाँ अपने आप सुलझ जाएँगी और फिर लड़के परीक्षा पास करने के लिए नहीं, पढ़ने के लिए पढ़ेंगे।' ज्ञान की जिज्ञासा लेकर या चरित्र को उन्नत बनाने हेतु अच्छे स्वभाव ढालने के उद्देश्य से शिक्षा में आज प्रवृत्त होते ही कितने हैं? शिक्षा पा कर नौकरी न करके स्वतन्त्र रूप से कुछ कार्य करने की उमंग, योजना व दृढ़ संकल्प लेकर कितने लोग बाहर आते हैं? जितना पैसा एम.ए., एमबीबीएस या बीई तक की डिग्री में माँ-बाप अपनी सन्तान पर व्यय करते हैं उतना पैसा हाई स्कूल या हायर सैकण्डरी के बाद उन्हें अपने पाँवों पर खड़ा होने की योजना में लगाना वे प्रारम्भ कर देते तो वे हाई-हायर सैकण्डरी पास होते हुए भी समाज के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते थे।

धन्धे की चर्चा होते ही विद्यालय में धंधामूलक शिक्षा के प्रयत्न भी नज़र आने लग जाते हैं। पर जिस तरह सुविधाजनक व सही होते हुए भी प्रमाण-पत्र प्रणाली ने शिक्षा में भ्रष्टाचार पैदा कर दिया वैसे ही विद्यालयों में शिक्षा को धन्धों का आधार प्रदान करते ही वह भी भ्रष्टाचार पैदा नहीं कर देगा इसकी क्या गारण्टी है? शिक्षा को जीवन से जोड़ा नहीं कि किसी भी कीमत पर शिक्षार्थी स्वार्थ साधने की ताबड़तोड़ कोशिश में लग जाएगा।

धंधों के लिए सरकार अलग शिक्षालय खोल सकती है। फुरसतकालीन शिक्षा और पूर्णकालीन शिक्षा दोनों का वहाँ प्रबन्ध हो सकता है। या दो-तीन

पारियाँ चल सकती हैं। जो जितना समय देना चाहे दे व सीखे। यह अलग प्रबंध ही उत्तम रहेगा। विद्यालयों में धंधे लाना उचित नहीं है। विद्यालयों में धंधों की शिक्षा स्वावलम्बी बना सकेगी इसमें तो सन्देह है ही, धन्धे पर दिया जाने वाला जोर वहाँ वास्तविक शिक्षा के महत्त्व को भी कम कर सकता है।

अतएव उचित यही होगा कि हम शिक्षा को जीवन के लिए उपयोगी बनाने की चेष्टा करते हुए भी इतना सतर्क अवश्य रहें कि नौकरियों या धन्धों से जुड़े होने के कारण शिक्षा का ढाँचा भ्रष्ट न हो जाए। शिक्षा और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध बताते हुए जब कोई यह कहने लगे कि शिक्षा-तन्त्र को नौकरियों के लिए और विविध उद्योग-धन्धों के लिए प्रत्याशी शिक्षार्थी तैयार करने हैं तो हमें तत्काल सावधान हो जाना चाहिए। शिक्षा का प्रमुख विषय 'शिक्षा' होना चाहिए। 'शिक्षित' व्यक्ति स्वार्थ में इतना अन्धा नहीं हो सकता कि प्रमाण-पत्र में प्रथम श्रेणी लिखवाने के लिए भ्रष्ट तरीकों का व हिंसा तक का सहारा ले। 'नई तालीम' के सम्पादकीय द्वारा सुझाया गया हल वर्तमान दुर्दशा के चरम विस्फुटन का प्रतीक मात्र ही समझा जाना चाहिए। वास्तव में प्रश्न-पत्र हलके करने, परीक्षाएँ हटाने या प्रमाण-पत्र देना बन्द कर देना ही सही हल नहीं है। जो छात्र मात्र प्रमाण-पत्र पाने या प्रमाण-पत्रों में ऊँची श्रेणियाँ प्राप्त करने के लिए उद्यम की बजाय अनैतिक कर्म का सहारा लेते हैं क्या वे स्वार्थ के वशीभूत हो नौकरी देने वालों के साथ भी अनैतिक एवं अमानुषिक आचरण पर नहीं उतर आएँगे? श्री बंशीधर ने नई तालीम के सम्पादकीय में जिसे मूल-ग्रन्थि कहा है, वस्तुतः मूल ग्रन्थि वह नहीं है। वह एक प्रमुख ग्रन्थि अवश्य है और फिलहाल उसे ही मूल मानकर चिकित्सा प्रारम्भ की जा सके तो कोई बुरी बात भी नहीं, किन्तु समस्या को सही समझना हो तो मानना होगा कि मूल-ग्रन्थि है—शिक्षा की अपूर्णता, अशिक्षा। जिस शिक्षा ने विवेक नहीं दिया, विनय नहीं दिया और मनुष्यता क्या होती है यह नहीं सिखाया वह शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति नौकरी देने वालों से कैसा सलूक करेगा यह समझना कोई विशेष मुश्किल नहीं है। नौकरियों में आज पाँच बुलाओ तो पाँच सौ आते हैं। परीक्षा विद्यालय नहीं लेंगे तो नौकरी देने वाले लेंगे। परीक्षा जिन्दगी में पग-पग पर होती है। पग-पग पर निराशा-हताशा-भग्नाशा से हमारा सामना सम्भव है, किन्तु जिन्दगी के हर मोड़ पर क्या हम यों बलप्रयोग पर उतर आएँगे? विद्यालय का तो पहला कर्तव्य यही है कि वह कड़ी से कड़ी परीक्षाएँ लेकर शिक्षार्थी को जीवन की अनगिनत अनेक कठोर परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने योग्य बनाए। लेकिन आज शिक्षा ऐसी है कि उपकुलपति पर प्रहार करने में भी हिचक नहीं होती।

डिग्रियों का रोटी-रोजी से सम्बन्ध इतना बुरी तरह जुड़ गया है और शिक्षार्थी को दी जाने वाली सही शिक्षा का स्तर इतना नीचे चला गया है कि माता-पिता

के हजारों रुपये व्यय करके और बरसों तक परिश्रम करके जो परीक्षा में उत्तीर्ण भी हो जाते हैं तो दीक्षान्त समारोहों के पण्डालों में फिर वे ही अशिक्षापूर्ण आचरण का प्रदर्शन करते हुए 'डिग्री नहीं नौकरी' का नारा लगाने लगते हैं, कुर्सियाँ तोड़ते हैं, आगत अतिथि का अपमान करते हैं। अपमानजनक आचरण से वे सम्मानपूर्ण व्यवहार अर्जित करते हों ऐसी कल्पना करना वृथा है। उपकुलपति नौकरियां देता हो यह भी नहीं सुना कभी। तब फिर यह प्रदर्शन, यह अनुचित स्थान पर अनुचित आचरण क्यों?

शिक्षा सिद्धान्तों में आज कदम-कदम पर व्यवहारगत उद्देश्यों की व व्यवहार-परिवर्तन को सदैव सामने रखने की बार-बार चर्चा होती है। यहाँ तक कि भाषा व साहित्य में भी ज्ञान की बजाय कुशलताएँ ढूँढ़ कर कुशलताओं के अभ्यास द्वारा व्यवहार-परिवर्तन का प्रयत्न होने लगा है। लेकिन मामूली-सी विषमस्थिति सामने आते ही जो व्यवहार हमारे शिक्षार्थी प्रस्तुत करते हैं वह गौरवपूर्ण नहीं कहा जा सकेगा। कुशलताओं की लाख 'ड्रिलिंग' के बाद भी उनमें व्यवहार की कुशलता कहाँ आई? इतने विषय पढ़ कर भी यदि आग लगाते हैं, छुरे तानते हैं और परीक्षा भवनों में अलशेसियन लेकर बैठते हैं तो जरूर मूल में ही भूल है। इस भूल को सुधारने के लिए हमें शिक्षा और जीवन के वर्तमान सम्बन्धों पर पुनर्विचार करना होगा। रोटी-रोजी बिना हमारा जीवन क्षण भर भी नहीं चल सकता, यह हमारे जीवन का सवाल है, लेकिन इसे हल करने के लिए हमें उस प्रणाली का ह्रास नहीं होने देना है जो हल करने की दृष्टि देती है, जो एक नहीं अनेक समस्याओं के हल की भी दृष्टि देती है, जो उससे भी ऊपर हमें मनुष्य के रूप में जीवन जीने की भी प्रेरणा, शक्ति और साहस देती है। रोटी-रोजी का प्रबन्ध भी व्यक्ति ही करेगा किन्तु यदि वह 'शिक्षित' व्यक्ति हुआ तो चाहे वह सरकारी क्षेत्र में, हो चाहे निजी क्षेत्र में जो प्रबन्ध वह करेगा वह विवेकपूर्ण-प्रबन्ध होगा और इस कारण सुंदर प्रबन्ध होगा।

अतएव हमारा पहला काम यही है कि हम इस व्यक्ति को शिक्षित करें, इसकी कड़ी-से-कड़ी परीक्षाएँ लें और ऐसा प्रशिक्षण दें कि यह परीक्षाओं से घबराना बन्द कर दे और झूठे प्रमाण-पत्रों के लिए व्याकुल होकर अनैतिक कर्म का सहारा न ले और घोर निराशा के वातावरण में भी धैर्य, विवेक, सहिष्णुता, साहस और सद्भावना की मजबूत आधारभूमि पर पाँव टिकाए रख सके। रोटी-रोजी भी जीवन है किन्तु उससे शिक्षा को जोड़-जोड़ कर शिक्षा में जो हमने दिशाभ्रम पैदा किया है वह एक ऐसे जीवन का दर्शन हमें करा रहा है जो हमें स्वप्न में भी अभीष्ट नहीं है। फलतः अब समय आ गया है कि हम दृढ़ता के साथ सही शिक्षा की माँग करें। ज्ञान के लिए रुचियों का झुकाव किसी भी विषय में

क्यों न हो; शीलवान व्यक्तित्व का आचरण पहले पूछा जाएगा तभी सही शिक्षा होगी। प्रमाण-पत्र विषयों का हो न हो, शीलवान व्यक्तित्व का प्रमाण-पत्र अवश्य दिया जाएगा और कड़ी-से-कड़ी अनेक परीक्षाओं में सफल उतरने के बाद दिया जाएगा। और इसके लिए हमें निर्ममतापूर्वक शिक्षा को रोटी-रोजी व नौकरियों वाली चिन्ता से अलग करना होगा। यह असुरक्षा की तलवार जब तक छात्र के सिर पर लटकती रहेगी तब तक सही शिक्षा की अपेक्षा करना भी अपराध है।

अन्त में फिर दोहराना चाहता हूँ कि मूल-ग्रन्थि को काटने के लिए नौकरी और प्रमाण-पत्र ही नहीं, जीविका और शिक्षा का भी सम्बन्ध-विच्छेद करना होगा। शिक्षा ग़लत पाई है इसलिए आज जीविका को जीवन का पर्याय माना जाता है। अतः जीवन और शिक्षा का अविच्छिन्न सम्बन्ध जानते हुए भी एक बार दृढ़तापूर्वक समाज, सरकार व शिक्षा प्रबन्धकों से कहना ही होगा कि कृपा कीजिये, शिक्षा को जीवन से (यों) मत जोड़िये।

शिक्षकों के निजी पुस्तकालय

शीशा लगी बड़ी-बड़ी आलमारियों की कतारें, अन्दर से झाँकती चमकते डस्ट कवर वाली या चमड़े की पुरानी जिल्द वाली रंग-बिरंगी पुस्तकें और पुस्तकों पर चिपके हुए कागज के गोल-गोल सफेद टुकड़े, जिन पर दशमलव या कालन प्रणाली से लगे हुए नाना प्रकार के नम्बर—'पुस्तकालय' नाम से कुछ ऐसा ही एक चित्र हमारे मस्तिष्क में उभर सकता है और इस चित्र में काउण्टर पर पुस्तकें लेते-देते कर्मचारी भी नज़र आ सकते हैं और पर्दे लगी खिड़कियों से घिरी ट्यूब लाइटों की रोशनी में चमकती रोशनदार विशाल मेजें और मेजों के इर्द-गिर्द रखी आधुनिक आकार वाली आरामदेह कुर्सियाँ भी नज़र आ सकती हैं।

और ऐसा होना ग़लत नहीं है क्योंकि किसी भी अच्छे कॉलेज या विश्वविद्यालय के पुस्तकालय या किसी अच्छे सार्वजनिक पुस्तकालय का लगभग यही स्वरूप होता है; हो सकता है। पर वस्तुतः इन पुस्तकालयों से भी अधिक कीमती, उपयोगी और महत्त्वपूर्ण जिस पुस्तकालय का चित्र सहसा हमारे मस्तिष्क में नहीं उभरता वह चित्र है प्रत्येक शिक्षक के निजी पुस्तकालय का, एक ऐसे पुस्तकालय का जो शिक्षक ने अपने खर्चे से कुछ पुस्तकें व पत्र-पत्रिकाएँ खरीद-खरीद कर बनाया हो।

यह पुस्तकालय शीशा लगी आलमारियों में नहीं भी हो सकता है पर इससे इसका महत्त्व कम नहीं हो जाता। महत्त्व इस तथ्य का है कि शिक्षक अपने ज्ञान को ताजा रखने के लिए कितना प्रयत्नशील है। ज्ञान को ताजा अपने विद्यालय के पुस्तकालय से, सार्वजनिक या कॉलेज या विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से भी रखा जा सकता है, और ज्ञानिवृंद के सम्पर्क-साहचर्य से भी रखा जा सकता है, किन्तु ज्ञान के निरन्तर प्रवाह को कायम रखने का एकमात्र स्रोत कोई है तो वह है स्वेच्छा से स्वरुचि के अनुकूल खरीदी गई खुद की पुस्तकें और खुद की पत्रिकाएँ।

शैक्षिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले शिक्षकों के लेखों पर नज़र डालें तो ज्ञात होगा कि हमारे शिक्षक लेखन में अभी विशेष रुचि नहीं लेते हैं। लेखन तभी हो सकता है जबकि शिक्षक स्वाध्याय में रुचि रखता हो। जो खुद पढ़ता नहीं

वह लिखने को कैसे तैयार हो सकता है? जो लेता नहीं वह देने की बात कैसे कर सकता है? पहली बात है—लेना। पर लेना कैसा? लेना किससे? लेना कब? पराये पुस्तकालयों से लिए जाने वाले ज्ञान का प्रकार, परिमाण व समय हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं करता। पराये पुस्तकालयों से जब जैसा लाभ लिया जा सकता है वह तो हम लेते ही हैं किन्तु हमारी भी रुचियाँ बनाएँ और उनके अनुकूल पत्र-पत्रिकाएँ व पुस्तकें खरीदें और ऐसा नित्य करें, निरन्तर करें, तो जो लाभ होगा वह और ही प्रकार का होगा। छोटा-बड़ा कैसा भी संग्रह हो, जिस शिक्षक का अपने द्वारा खरीदी गई निजी पुस्तकों का संग्रह नहीं होगा, वह किस पर अभिमान करेगा?

शिक्षक का निजी पुस्तकालय ही इस तथ्य का परिचायक हो सकता है कि वह क्या सोचता है, किन विचारों में अनुराग रखता है और किन विचारों की वृद्धि को समुत्सुक है। अतीत के और आज के महान् विचारकों में कुछ तो ऐसे जरूर होंगे जिन्हें हम अपना बना सकते हैं, जिनसे हम पग-पग पर आचरण व चिन्तन में मदद ले सकते हैं और जिनकी उंगली पकड़ कर समर्थ अभिव्यक्ति के मार्ग पर चलना सीख सकते हैं, अपने भाव व अपने विचार अपनी खुद की शैली में कहने का प्रयास कर सकते हैं।

पर यदि हम अपनी विशेष रुचियाँ ही नहीं बनाएँगे तो हम बढ़ेंगे किधर और पढ़ेंगे क्या? और यदि बिना रुचि व बिना अध्ययन के लिखने को कलम उठा ली तो जो लिखा जाएगा वह पाठ्यपुस्तकों की शैली से भिन्न नहीं होगा। अतएव उत्तम यही है कि शिक्षक अपना निजी पुस्तकालय आप बनाएँ, सतत स्वाध्याय करें, अपने प्रिय महान् ग्रन्थों का नियमित अनुशीलन करें और मनन-चिन्तन द्वारा देश-विदेश के शैक्षिक विचार-मंथन में सक्रिय भाग लें। प्रेरणा के ये भीतरी उत्स जब तक उसकी निजी सम्पत्ति के अंग नहीं बनेंगे तब तक उससे की जाने वाली मौलिक चिन्तन की आशा अपूर्ण ही रहेगी।

बच्चों की शिक्षा और माता-पिता

आपके बच्चे स्कूल जाते हैं। लौटते हैं तो बस्ता एक कोने में रख कपड़े बदल कर, या बिना बदले ही, गली में खेलने को निकल पड़ते हैं। आपको तो शायद यह भी ध्यान नहीं होगा कि बच्चों ने कपड़े बदले या नहीं और बस्ता किसी निर्धारित स्थान पर रखा या इधर-उधर ऐसे ही पटक कर भाग गए। बच्चों को आप जिस अनुशासन में रखना चाहेंगे, बच्चे वैसे ही रहेंगे। बच्चे वही करेंगे जैसा आपने उन्हें सिखाया है—संस्कार दिया है, जैसा आपने उन्हें सिखाना सीखा है, और उसी के अनुसार आप उन्हें जैसा वातावरण देते हैं अर्थात् जैसा आप उनके साथ बर्ताव करते हैं। याद रखिए, बच्चों की सही शिक्षा के लिए माता-पिता की भी लगातार शिक्षा होती रहनी जरूरी है।

बच्चे स्कूल में जो पढ़ आते हैं उसे आप देखने के लिए बच्चों को ले कर कभी उनके पास बैठते हैं? उनका बस्ता खोल कर देखते हैं कि उन्होंने टिफिन-बॉक्स बस्ते से निकाल कर रसोई में बर्तन साफ करने वाली जगह रखा है? और आपने उन्हें इससे भी आगे यदि खुद साफ करके कपड़े से पोंछ कर सुखा कर जहाँ रखना चाहिए वहाँ रखना सिखाया है तो वैसा किया है कि नहीं, यह भी देखते हैं?

अब, बस्ते की कापियों में क्या काम करके लाया है बच्चा, और क्या घर पर करने को लाया है, यह भी देखना चाहिए। पता करना चाहिए कि आज किस विषय में उसे क्या पढ़ाया गया है और वह उसे ठीक से सीखा है कि नहीं। कुछ प्रश्न पूछ कर देखिए, कुछ पाठ उससे सुनिए और कुछ पाठ आप उन्हें समझाइए। जहाँ भी लगे कि स्कूल में पढ़ाया तब कोई अंश ऐसा भी था जो उसे समझ नहीं आया या आधा-अधूरा समझ आया, तो वह अंश आप उसे स्पष्ट कर दीजिए।

सप्ताह-दो सप्ताह यह दैनन्दिन क्रम चलने लगे तो एक दिन छुट्टी का दिन हो तब आप उसे पढ़े हुए में से कभी किसी विषय और कभी किसी विषय में कुछ सवाल जबानी पूछ लीजिए और कुछ सवाल लिखित में हल करा दीजिए।

केवल इतना ही नहीं, बच्चों की शिक्षा में जो माँ-बाप रुचि लेना चाहते हों उन्हें उनके साथ खेलना भी चाहिए, उन्हें खेलते देखना भी चाहिए, कभी इनडोर

तो कभी आउटडोर भी। आउटडोर खेलों में क्रिकेट भी हो सकता है और फुटबॉल, वॉलीबॉल, बास्केटबॉल या अन्य भी। खेलने का मैदान भले पास हो चाहे दूर हो, माता-पिता को यदि बच्चे के विकास में पूरी रुचि है तो जहाँ भी वह खेलता हो वहाँ पहुँच कर उसे उसके साथियों के साथ खेलते देखना चाहिए, उसके साथियों को पहचानना चाहिए और हो सके तो उनकी सराहना कर, उनसे बातचीत कर, उनके स्वभाव और व्यक्तित्व को भी समझना चाहिए। वैसे खेल देखने से भी उन साथियों के स्वभाव और व्यक्तित्व का खासा परिचय हमें मिल जाएगा। संगत का भी बहुत प्रभाव पड़ता है बच्चों पर।

इस प्रकार बच्चों के विकास अर्थात् बच्चों की शिक्षा की प्रक्रिया माँ-बाप बहुत करीब से जानते रहेंगे और उस प्रक्रिया के सक्रिय अंग बनते हुए यदा-कदा उनकी सहायता और मार्गदर्शन भी करते रहेंगे।

आजकल लगभग हर घर में टी.वी. है। माँ-बाप तो घर-बाहर के कामों में व्यस्त रहते हैं, यह ध्यान ही नहीं देते कि बच्चे टी.वी. अधिक देखते हैं या कुछ पढ़ाई-लिखाई भी करते हैं, कि वे क्या चैनल और क्या कार्यक्रम देखते हैं, कितनी देर देखते हैं, आदि। स्कूल से आते ही हर घर में रिमोट की लड़ाई शुरू हो जाती है। शहरों में भी और गाँवों में भी। कोई बच्चा कोई कार्यक्रम देखना चाहेगा तो कोई बच्चा कोई। रिमोट एक और टी.वी. भी एक। मुसीबत ही मुसीबत। माता-पिता क्या करें? वे नाराज़ होते हैं। खीझते हैं। कभी-कभी तो हार कर, टी.वी. बन्द कर, बच्चों को बाहर भगा देते हैं।

यह ग़लत है। यहाँ माता-पिता को भी सीखने की जरूरत है। एक तो यह कि उनका कौन बच्चा क्या पसन्द करता है यह जानें, और सभी को उनकी पसन्द का चैनल व कार्यक्रम एक साथ देखने का मौका मिलना तो सम्भव नहीं, ऐसा उन्हें समझा-बुझा कर शान्ति का प्रबन्ध करें, सहयोग सद्भाव सिखाएँ। यह भी एक जरूरी शिक्षण है। माँ-बाप के हिस्से का कर्तव्य है। आप इसे परिवार-प्रबंधन भी कह सकते हैं। कुछ भी नाम दें किन्तु माता-पिता ने स्वयं की शिक्षा नहीं की तो वे अपने बच्चों के साथ न्याय नहीं कर सकेंगे, ऊटपटांग व्यवहार ही करेंगे। अच्छे व्यवहार के लिए माता-पिता को जागते रहना होगा। जागते रहने का उपाय करना होगा। और उपाय एक ही है—बाल-शिक्षण सम्बन्धी अपनी सतत शिक्षा।

बच्चे स्कूल की पढ़ाई अच्छी करें। उनका देश-दुनिया का सामान्य ज्ञान भी खूब बढ़ा-चढ़ा हो, और चाल-चरित्र में भी वे ऊँचा उठें, ऐसा उद्देश्य माता-पिता सामने रखें, यह उन्हें दूसरा कौन सिखाएगा। यह तो उन्हें खुद ही सीखना होगा। ढूँढ़ते रहें काम की किताबें। मेरी नज़र में जो श्रेष्ठ हैं वे बताता हूँ। हर माता-

पिता के पास ए.एस. माकारेंको की 'अ बुक फॉर पेरेंट्स' (मॉस्को प्रकाशन) हो, गिजुभाई की चार किताबें हों—'माता-पिता से', 'माँ-बाप बनना कठिन है', 'माता-पिता के प्रश्न' तथा 'माँ-बापों की माथापच्ची' (मोण्टीसॉरी बाल-शिक्षण समिति, राजलदेसर, चूरू), जॉन होल्ट की 'बच्चे असफल कैसे होते हैं' (एकलव्य प्रकाशन, भोपाल) हो, तथा प्रो. कृष्णकुमार की 'शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व' (ग्रन्थशिल्पी, दिल्ली) हो, तो उन्हें बच्चों के लालन-पालन की अनेक बारीक बातें शीघ्र समझ आ जाएँगी।

उपाय यही है कि बच्चों से प्यार करें, बच्चों के साथ रहें, बच्चों का साथ दें। देखें कि बच्चों को क्या प्रिय है। देखें कि बच्चों को क्या प्रिय होना चाहिए। कार्टून देखते-देखते समाचार चैनल भी देखने का स्वभाव पड़े। मार-धाड़ की फिल्में या जादू भरी या जासूसी फिल्में या सीरियल देखने की बजाय कोई सार्थक ऊँचे आदर्शों वाली या ऊँची कलात्मक अभिव्यक्ति वाली रहस्य-रोमांच की, या उससे भी आगे प्रेम, सद्भाव, समाजसेवा या उत्कृष्ट मूल्यों की प्राप्ति के लिए संघर्षमय जीवन की, कथाओं वाली फिल्में या सीरियल देखने की आदत बने। सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि हमारी होगी तो हम अपने बच्चों का यों मार्गान्तरीकरण कर सकेंगे। यह भी विद्या है। बच्चों की रुचियाँ मोड़ने की भी विद्या होती है। यह हरेक में नहीं होती। जाग्रत् रहो और प्रयत्न करो तो यह विद्या आती है।

टी.वी. की तरह ही पाठ्येतर पुस्तकों-पत्रिकाओं के पढ़ने की आदतों का निर्माण भी एक जरूरी काम है। शुरू में बालक कैसी पुस्तकें या पत्रिकाएँ पसन्द करता है और फिर धीरे-धीरे वह किधर मुड़ता है, यह भी ध्यान देने की बात है। ध्यान दीजिए, घटिया सामग्री पढ़ने से रोकिए मत, उसे छिप कर पढ़ने को मजबूर मत कीजिए। 'घटिया' सीरियल, 'घटिया' पुस्तकें या 'घटिया' पत्रिकाएँ, हमारी नज़रों में 'घटिया' हैं। उनकी नज़रों में नहीं। वे देखते हैं या पढ़ते हैं तो हम उन्हें देखने दें, पढ़ने दें। मौका और मन देखकर सुझाव देते हुए श्रेष्ठ की तरफ उन्हें मोड़ें। यह हमारा कर्तव्य है। श्रेष्ठ की पहचान में समय लगेगा, किन्तु हमारा प्रयत्न जारी रहा तो वे एक दिन घटिया और बढ़िया के भेद को पहचानने की शक्ति प्राप्त कर लेंगे। इस विवेक का विकास ही हर शिक्षा का अभीष्ट है। आपसी रिश्तों में भी यह विवेक काम आता है। भौतिक-बौद्धिक विकास में भी काम आता है।

कई माता-पिता हैं जो ध्यान देते हैं, शिक्षा और बाल-मनोविज्ञान सम्बन्धी श्रेष्ठ साहित्य पढ़ते हैं और नया-पुराना श्रेष्ठ शिक्षा साहित्य ढूँढ़ते भी रहते हैं, किन्तु कई ऐसे भी हैं जो न ध्यान देते हैं और न कोई श्रेष्ठ साहित्य-वाहित्य पढ़ते हैं, तो उनको जागना चाहिए और कोशिश करनी चाहिए कि बच्चों की शिक्षा में वे रुचि लें और उनकी पूरी-पूरी मदद करें।

अजेय मस्तिष्क, मानव मन और हम

एक बार दिल्ली विश्वविद्यालय में निजाम भाषणमाला के अन्तर्गत भाषण देते हुए विद्वान् लेखक और शिक्षाविद् श्री के.जी. सैयदैन ने व्यक्त किया था कि पृथ्वी के प्राणियों में मनुष्य को सर्वोपरि स्थान दिलाने में उसके मस्तिष्क की एक महती भूमिका रही है। मस्तिष्क की मदद से ही उसने प्रकृति पर विजय पाई है और मस्तिष्क की मदद से ही उसने ज्ञान-विज्ञान का विकास कर सभ्यता व संस्कृति की परम्पराएँ स्थापित की हैं। कोई वक्त था जब इनसान केवल कुदरत का अंग था और उसका विकास भी वैसे ही होता था, जैसे कुदरत के जीवों का होता है। लेकिन अब वह जिस अवस्था में पहुँचा है वहाँ उसका विकास मात्र जैविक अथवा कुदरती विकास नहीं है। विकास की यह क्रिया अब मुख्य रूप में एक सांस्कृतिक क्रिया है जिसका संचालन उसका मस्तिष्क करता है।

यह मस्तिष्क मनुष्य को जीवन के प्रति पग-पग पर देखने का तरीका सिखाता है। अतएव मनुष्य का फर्ज है कि वह इस मस्तिष्क की ऐसी देख-रेख करे कि यह उसे सदा सही मार्ग दिखाए। ग़लत मार्ग उसे दनुज बनाएगा, सही मार्ग मनुज। मनुजता और दनुजता की सीमाओं को पहचानने का सामर्थ्य जहाँ पैदा किया जाता है वही विद्यालय है, वही हमारी पाठशाला है। आणविक उन्नति का अविवेक और भौतिक समृद्धि की भूख हमें यह सामर्थ्य प्राप्त करने में कहीं बाधक न हो, इसके प्रति सतर्क रहने की सलाह श्री सैयदैन ने अपने उपरोक्त भाषण में दी और इस बात की जरूरत पर जोर दिया कि हमें बाहरी बढ़ोतरी (या उन्नति) और आन्तरिक विकास (जो निश्चित ही मस्तिष्क की शक्तियों को ऊँचे-से-ऊँचे धरातल पर ले जाने का ही एक सिलसिला है), इन दोनों के बीच पर्याप्त सन्तुलन बनाए रखना है।

एक और सावधानी की जरूरत पर भी उनका ध्यान गया। प्रायः ऐसा होता है कि किसी पुराने सड़े-गले विचार की जड़ता दूर करने को कोई क्रान्तिकारी खयालों वाला कॉपर्निक्स (ज्योतिषशास्त्री), डार्विन (जीवशास्त्री) या फ्रायड (मनोविज्ञानी) पैदा होता है किन्तु जड़ता दूर करने वाले इनके विचार भी तब तक ही जड़ें जमाए रह सकते हैं जब तक कि वे प्राणवान हैं, चेतन हैं। इनमें भी जड़ता

आई तो मस्तिष्क फिर करवट बदलता है, विचार-जगत् में फिर क्रान्ति आती है और फिर सिद्ध होता है कि मनुष्य की मूलभूत महानता व स्वतन्त्रता को यह मानव मस्तिष्क ही अक्षुण्ण बनाए हुए है। विचारों की सृष्टि करने वाला यह मानव मस्तिष्क अजेय है।

यह अजेय मस्तिष्क सिकन्दर या हिटलर की देह में जब बैठा तो उन्होंने संसार पर क्रूरतापूर्ण शासन करने के सपने देखे और जब गौतम या गांधी की देह में बैठा तो सत्य, अहिंसा और प्रेम की भूमिका पर आधारित विचार और कर्म के एक विराट् प्राणदायी रचनात्मक वातावरण की सृष्टि कर डाली। लेकिन दूसरी बात बार-बार हर युग में हो कैसे? इनसान सिकन्दर न बन कर गौतम कैसे बने? हिटलर न बन कर गांधी कैसे बने? या गौतम और गांधी से भी आगे का कोई और व्यक्ति कैसे बने? निश्चित ही सही दिशा में बौद्धिक विकास द्वारा।

मन और बुद्धि का अन्तर अलग विवेचन का विषय हो सकता है पर इतना निश्चित है कि बुद्धि को संकल्प की शक्ति देने वाला शुद्ध मानव-मन मिलना जरूरी है। सभ्यता की प्रगति ने जीवन को जटिल बनाया है और हमें भी मनुष्य के शरीर में निर्मल मन व सन्तुलित बुद्धि का विकास एक कठिन और जटिल काम प्रतीत हो सकता है, किन्तु अजेय मस्तिष्क का साथ है तो विश्व को सही दृष्टिकोण दे सकना ज़रा भी मुश्किल नहीं रहेगा। बाह्य प्रगति के साथ आन्तरिक विकास का सामंजस्य तो बिठाना ही होगा, खास तौर से इसलिए कि समूची मानव सभ्यता की श्रेष्ठता जितनी भौतिक समृद्धि की श्रेष्ठता पर निर्भर करती है उससे कहीं अधिक वह मानव की वैचारिक श्रेष्ठता पर भी निर्भर करती है। उच्च विचार शुद्ध हृदय किंवा निर्मल मन व मस्तिष्क में ही जन्म ले सकते हैं।

बौद्धिक जगत् में भी ज्ञान-विज्ञान के नाम पर कूड़े-करकट की कमी नहीं, किन्तु यदि उच्च विचार हमारा आदर्श रहे, आत्मा का उज्ज्वल प्रकाश पाने का हमारा आग्रह रहे, तो मनुष्य उन्नति के किस शिखर तक जा पहुँचेगा यह मात्र अनुमान या कल्पना की चीज नहीं रहेगी।

अधूरे विश्वास, अंधविश्वास

चियाँ-मियाँ और हम साहब

जब आप बहुत छोटे थे तब आपने एक कहानी पढ़ी होगी जिसका नाम है—'चियाँ-मियाँ और हम साहब'। मैं जब छोटा था तब मैंने पढ़ी थी। मैं जब बड़ा हुआ तो मेरे बच्चों ने उसे पढ़ी। अब मेरे बच्चों के बच्चे उसे पढ़ रहे हैं। बहुत मज़ेदार कहानी है। समाज में एकता लाने वाली कहानी है। हिन्दू, मुसलमान और ईसाइयों में भाईचारा पैदा करने वाली कहानी है। भोले लोगों की कहानी है। ऐसे लोगों की कहानी है जिनके मन में मैल नहीं था। कभी अकेले होते। कभी साथ हो जाते। अकेले रहते तब कष्ट उठाते। साथ होते तब दुःख दूर हो जाता। खूब सुख पाते। लो सुनो। थोड़े में सुनाता हूँ। पूरी कहानी तो पुस्तक मिले तब पढ़ना। मुझे उसे पढ़े बहुत बरस हो गए। पूरी याद नहीं। कुछ-कुछ याद है। वही सुनाता हूँ। फिर बताऊँगा कि उसमें ज्ञान की क्या बात है। वह कहानी बड़े-बूढ़ों को भी ज्ञान देगी। जब वह पुस्तक तुमको मिले तब बड़े-बूढ़ों को भी देना। पढ़कर सुनाना। उस कहानी से क्या सीखे यह पूछना। फिर देखना कि मैंने बताई और आपके बड़े भाई, पिताजी-माताजी या बूआजी ने बताई वह एक ही है या भिन्न है।

तो, लो। कहानी सुनो। पूरी नहीं। थोड़ी सी संक्षेप में। एक था चियाँ। एक था मियाँ। और एक थे हम साहब। चियाँ, मियाँ और हम साहब घूमने गए।

तीनों को एक-एक पैसा मिला। तीनों बाजार गए। तीनों ने एक-एक पापड़ लिया। अंगीठी पर पापड़ सेंका। चियाँ और मियाँ का पापड़ सिंक गया। हम साहब का पापड़ जल गया। थोड़ा चियाँ ने दिया। थोड़ा मियाँ ने दिया। हम साहब का पेट भर गया।

चलते-चलते तालाब पर गए। तीनों ने डुबकी लगाई। चियाँ और मियाँ तो निकल गए। हम साहब डूब गए। थोड़ा जोर चियाँ ने लगाया। थोड़ा जोर मियाँ ने लगाया। हम साहब बाहर आ गए।

चलते-चलते उनको एक राजा मिला। चियाँ ने राजा को नमस्कार किया। मियाँ ने राजा को सलाम किया। हम साहब ने राजा को अंगूठा बताया। राजा ने इनाम दिया। चियाँ को घोड़ा दिया। मियाँ को घोड़ा दिया। हम साहब को गधा दिया।

चियें का घोड़ा बोला—हीं-हीं-हीं। मियें का घोड़ा बोला—हूँ-हूँ-हूँ। हम साहब का गधा भाग गया।

थोड़ा चियाँ ने बिठाया। थोड़ा मियाँ ने बिठाया। हम साहब घर पहुँच गए। ❐

पढ़ ली आपने कहानी? कैसी लगी? क्या शिक्षा मिलती है इस कहानी से?

मैंने इस कहानी पर कई बार विचार किया है। मैंने इसका जो अर्थ लगाया है वह बताता हूँ।

'चियाँ' माने छोटा। 'मियाँ' माने मझोला। बीच का 'हम साहब' माने ऊँचा, अहंकारी। अहं से भरा हुआ 'साब'। तीनों मिलकर चलें तो 'समाज'। अकेले चलें तो स्वार्थी व्यक्ति।

अंग्रेज अहंकारी था। जो ईसाई बना वह भी 'साब' (अंग्रेज शासक) की चाल चला। जिसने अपना पहनावा छोड़ा वह भी अंग्रेज के समान वस्त्र धारण करके जनता से दूर हट गया, 'साब' बन गया। आज का शासक भी 'साब' कहलाना पसन्द करता है। 'साब' अपने अहं के कारण कहानी में 'हम साब' बन जाता है। खुद को 'हम साब' समझने वाला व्यक्ति समाज से दूर हो जाता है। यह कहानी सिखाती है कि 'चियाँ' चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो और 'मियाँ' भी चाहे 'हम साब' से नीचे दर्जे का ही क्यों न हो, 'चियाँ-मियाँ' के सहयोग बिना 'हम साब' का पापड़ भी नहीं सिंक सकता। 'चियाँ-मियाँ' साथ नहीं रहें तो कोई काम पूरा नहीं होगा। 'हम साब' डूब जाएगा। गधा भाग जाएगा। 'चियाँ मियाँ' मदद करेंगे तो डूबे हुए भी पानी से बाहर आ जाएँगे और घर पहुँच जाएँगे।

यह कहानी सामाजिकता सिखाती है। एकता का पाठ पढ़ाती है। समाज में किसी को भी छोटा-बड़ा न मानने का महत्त्व बताती है। एक-दूसरे की मदद करने की आदत डालने के फायदे बताती है। जो अहंकार में डूबा रहता है वह अपने आपको 'हम' कहने से बड़ा नहीं बन जाता है, यह इस कहानी से बहुत अच्छी तरह समझ में आ जाता है। अच्छा कपड़ा पहन कर, ऊँची कुर्सी पर बैठकर और ऊँचा वेतन पाने से आदमी ऊँचा नहीं बन जाता है। पापड़ की जगह पापड़ ही काम आता है। तैरना नहीं आता हो तो आदमी डूबेगा ही। अकेला रहेगा तो डूबेगा। साथ रहेगा तो बचेगा। साथ भले 'चियें-मियें' का ही हो। साथ होना चाहिए। साथ बड़ा है। सम्बन्ध बड़ा है। जो सम्बन्धों को समझता है वह फायदे में रहता है। वह सुखी रहता है।

अब इस कहानी को उलट कर देखें। क्या 'चियाँ' अकेला रहेगा तो सुखी रहेगा? क्या 'मियाँ' अकेला रहेगा तो सुखी रहेगा? नहीं, कभी नहीं। सुख तो साथ रहने में ही है।

इसको थोड़ा और समझें।

अकेला रहेगा तो सुखी क्यों नहीं रहेगा? मन नहीं लगेगा? कोई डर लगेगा? नींद नहीं आएगी?

यह भी सच है कि अकेले व्यक्ति का मन नहीं लगता। अकेले को डर भी लग सकता है। और अकेले में शायद नींद भी न आती हो।

लेकिन बड़ी बात यह नहीं है। बड़ी बात यह है कि अकेला आदमी रहेगा किस ताकत पर? पैसे की ताकत होगी, मकान की ताकत होगी, सामान की ताकत होगी, राज की ताकत होगी, कोई-न-कोई ताकत होगी तभी तो अकेले रहने की इच्छा होगी! पद और पैसे का मद आदमी को समाज से काटता है। दूर करता है। अकेला बनाता है। पद और पैसे के मद में जब आदमी डूब जाता है तब वह 'मैं' नहीं रहता, 'हम' बन जाता है। वह भूल जाता है कि 'हम' में तो दूसरा भी शामिल है। 'हम' शब्द तो समाज के लिए है। लेकिन जो पद-पैसे के मद में डूबा है, जो घोर स्वार्थी है, उसको अपने सिवा कुछ नज़र नहीं आता है, वह अपने भीतर ही 'हम' को देखता है। वह खुद अकेला ही 'हम' बन जाता है। सारे समाज को चूस कर वह अपने पेट में डाल लेना चाहता है। समाज से कहेगा त्याग करो ताकि समाज जो त्यागे वह उसे प्राप्त हो। समाज से कहेगा 'सत्यं वद धर्मं चर' ताकि असत्य और अधर्म का मार्ग उसके लिए खुला रहे। समाज से कहेगा नशा मत कर, और खुद नशा करेगा। ऐसा जो स्वार्थी, लोभी और अहंकारी व्यक्ति होता है वह अपने आपको 'हम' समझता है। वह असली 'हम' नहीं है। वह नकली 'हम' है। हमें इस नकली 'हम' से बचना है।

एक 'हम' मस्ती का 'हम' है। भोला आदमी या मस्त आदमी मस्ती या प्यार से खुद को 'हम' कहता है। वह पूरे समाज को अपने भीतर समेट कर आनन्द बढ़ाता है। उसका 'हम' निर्दोष है। उसका 'हम' समाज विरोधी नहीं है। वह भोलेपन से अपने आप को 'हम' बोलता है। उसके 'हम' में स्वार्थ या संकीर्णता नहीं है, फक्कड़पन है। फक्कड़पन में लाभ उठाने की इच्छा पर कभी जोर नहीं रहता है। बेपरवाही रहती है इस कारण कभी नुकसान भी हो जाता है। लेकिन मस्ती, बेपरवाही या भोलेपन के कारण 'चियाँ' हो चाहे 'मियाँ' कोई उसका साथ नहीं छोड़ता, बल्कि मदद करता है। थोड़ी 'चियाँ' ने मदद की, थोड़ी 'मियाँ' ने मदद की, 'हम साहब' का काम बन गया। भोलेपन के कारण उस पर सब दया करते हैं, प्रेम रखते हैं, मदद करते हैं। डूबने नहीं देते।

जो लोग समाज के साथ नहीं चलते हैं, जो लोग समाज की इज्जत नहीं करते हैं, उनको देखने की एक यह दृष्टि भी हो सकती है कि हम उन्हें जोकर मानें, भोला बाबा समझें, अलमस्त अवधूत समझें या परमहंस कह लें। यह दृष्टि रहती है तो हम उन्हें प्यार देते हैं, उनके साथ रहते हैं और उनको साथ रखते हैं।

लेकिन दूसरी स्थिति यह भी हो सकती है कि उसे जोकर या अनाड़ी या परमहंस मानने का कोई कारण न हो, तब वह निश्चित तौर से स्वार्थी और समाज विरोधी होता है। तब समाज के अन्य लोगों की इच्छा यही होगी कि उसका पापड़ जल जाए, उसे रोटी न मिले, उसका गधा भाग जाए और वह जंगल में परेशान होकर भटकता रहे या वह पानी में डूब जाए।

समाज में ऐसा न हो इसका सबसे अच्छा उपाय यही है कि हम हमारे कर्तव्य पहचानें, हम सब से मिलकर चलें और सब एक-दूसरे के सुख-दुःख का खयाल रखें।

आपसी सम्बन्धों की समझ

हम सब एक हैं। हम सब साथ हैं। इसलिए अकेले नहीं हैं। अकेले तब हैं जब अकेला होना जरूरी है। जैसे, यह सोचने को कि किसके साथ कैसा सम्बन्ध रखें, कितना सम्बन्ध रखें। हम अकेले तब हैं जब हम सबको सुन कर आए हों और फैसला करना हो। अपना भला-बुरा हमें खुद समझना है। सुनना सब को है। सरकार भी कुछ कहेगी, राजनीतिक संस्थाएँ और उनके नेता भी कुछ कहेंगे और विद्वान् लोग भी कुछ कहेंगे। कुछ किताबों में अमर साहित्य होता है, मूल्यवान ज्ञान होता है। उनको भी सुनना होगा। परिवार के सदस्य कहेंगे, सगे-सम्बन्धी कहेंगे, बन्धु-बाँधव और दोस्त-मित्र भी कहेंगे। ये सब समाज के आधार हैं। समाज के भाग हैं। ये सब हमें सलाह देंगे। इन सब को सुनना होगा। लेकिन उसके बाद हमको अकेले हो जाना होगा अन्तःकरण की आवाज सुनने के लिए। दूसरों की राय विवेक की कसौटी पर कसने के लिए। सभी के सुझावों का, सभी की रायों का विश्लेषण करने के लिए।

जब तक किसी कसौटी की जरूरत नहीं पड़ती तब तक कोई समस्या नहीं है। जब एक-दूसरे के विरोधी सुझाव मिलते हैं या विरोधी व्यवहार नज़र आता है तब समस्या बनती है। तब एकान्त में अकेले सोचने की जरूरत पैदा होती है। तब आप नैतिक दायित्वों के दबाव महसूस करने लगते हैं। तब आपको मालूम होता है कि दुनियादारी का मार्ग कितना पेचीदा है।

सम्बन्ध किसी-न-किसी कारण से बनते हैं। इन सम्बन्धों की घनिष्ठता घटती-बढ़ती है। प्रत्येक को मित्र नहीं कह सकते, प्रत्येक को भाई नहीं कह सकते।

कम-से-कम दुनियादारी में ऐसा होना सम्भव नहीं है। सन्त स्वभाव के लोगों की बात अलग है। कोई उनको भोला, कोई उनको मूर्ख और कोई उनको पागल कहता है। जबकि सच तो यह है कि सबसे अच्छा और सबसे सही रास्ता वही है। लेकिन वह सन्त का रास्ता है, महात्मा का रास्ता है, अधिकतर लोग अधिक-से-अधिक कोशिश करें, उस तरफ बढ़ने की, यही हम कामना कर सकते हैं। तथ्य यही है कि हम सभी से सभी समय एक सा सम्बन्ध नहीं रख सकते। किसी से कम गहरा तो किसी से ज्यादा गहरा सम्बन्ध होगा। सम्बन्ध रखने वालों के स्वभाव का इन सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ेगा। उनके स्वभाव, समझ और इच्छा-शक्ति का भी इन सम्बन्धों के निर्माण पर जरूर असर पड़ेगा।

इस समझ को यथार्थ की समझ कहते हैं। जो सामने जैसा है उसको उसी रूप में देखना और उसी रूप के अनुसार उस पर विचार करना ही यथार्थ की समझ कहलाता है।

एक और समझ होती है—आदर्श की समझ। ऊपर जो सन्त-महात्मा के रास्ते की बात कही वह आदर्श की बात थी। उसकी समझ आदर्श की समझ है। आदर्श की समझ तो हमको होनी ही चाहिए। कोई-न-कोई लक्ष्य तो ऐसा होना ही चाहिए जो हमारी नज़रों में सर्वश्रेष्ठ हो। सर्वश्रेष्ठ का मतलब है सबसे अच्छा और सबसे सही। लेकिन जो सबसे अच्छा और सबसे सही होता है वही सबसे ऊँचा होता है। इतनी ऊँचाई तक हर कोई आदमी पहुँच नहीं सकता है। इसीलिए ऐसे लक्ष्य को आदर्श कहा है। आदर्श की समझ हमें हो और हम सदैव उसे अपने सामने रखे रहें तो हम अपने चरित्र और व्यक्तित्व को बहुत ऊँचा उठा सकते हैं।

दुनिया का सबसे बड़ा आदर्श है—'वसुधैव कुटुम्बकम्'। सारी दुनिया ही एक कुटुम्ब है। जब दुनिया कुटुम्ब है तो इस दुनिया का हर निवासी हमारा भाई हुआ या बहिन हुई अर्थात् हमारा सगा-सम्बन्धी हुआ। लेकिन व्यवहार में बहुत बार धोखा हो जाता है। तब हार कर आदमी सावधानी रखने लगता है। सम्हल कर चलने लगता है। कुछ ही लोगों से भाई-सा सम्बन्ध रखता है, शेष लोगों से मित्रता रखता है या मामूली बोलचाल का सम्बन्ध रखता है। अच्छे मित्रों के बीच घनिष्ठता इतनी बढ़ती है कि कभी-कभी सगे भाई को भी मात कर देती है।

घनिष्ठता हमें रखनी चाहिए, उसे बढ़ाना भी चाहिए लेकिन आगा-पीछा देख कर। हरेक नई जान-पहचान के आदमी को दौड़कर गले लगाने की जरूरत नहीं है। हर सहायक, सहयोगी या मित्र पर अंधाधुंध आत्मीयता उंडेलने की जरूरत नहीं है। हर सम्बन्ध की मर्यादा को समझिए। सम्बन्ध ही नहीं, शब्द और भंगिमा की मर्यादा को भी समझिए। जहाँ थोड़ा-सा मुसकराने की जरूरत है वहाँ आप हो-हो कर हँसने लगें तो उसका वह प्रभाव नहीं पड़ेगा जो पड़ना चाहिए। आपकी भाव-

भंगिमा आपके सम्बन्धों के अनुरूप होनी चाहिए। आँख और होंठों की हलचल और शरीर के अन्य अंगों का संचालन यदि सही समय व सही आवश्यकता के अनुरूप होता है तो उससे बहुत लाभ होगा। अन्यथा ज्यादा बोल कर जैसे शब्दों का अपव्यय करते हैं वैसे ही ज्यादा आँख-नाक हिला कर आप भाव-भंगिमा की शक्ति का भी अपव्यय करेंगे। ये भी आपके कर्तव्य हैं, यदि आप ध्यान दें तो, यदि आप इनसे लाभ उठाना चाहें तो।

व्यवहार के तरीके पर नज़र जरूर रखनी होगी। जो शत्रुता रखता है वह मित्र बन जाए और जो मित्र है वह भाई बन जाए ऐसा प्रयत्न बराबर जारी रखें तो आप को दुनिया में बहुत लाभ होगा, बहुत सुख मिलेगा। मित्र अनेक मिलेंगे पर अच्छा मित्र या सच्चा भाई कोई विरला ही मिलता है। जब मिलता है तो जीवन कितना सुखमय बन जाता है!

नए समाज की रचना

आपसी सम्बन्धों की समझ का विकास होगा तब नए समाज की रचना होगी। नए समाज की रचना करना आसान काम नहीं है। नए समाज की रचना करने की इच्छा होगी तब कई कठिनाइयाँ पैदा होंगी। उन कठिनाइयों को समझना और उन्हें दूर करना भी एक बड़ी कठिनाई है। जो लोग अपनी हालत सुधारना चाहते हैं वे इस कठिनाई से घबराएंगे नहीं। हिम्मत से काम लेंगे। बड़ी कठिनाई हो चाहे छोटी कठिनाई हो, वे अपने रास्ते की सभी बाधाओं को हटा कर ही चैन लेंगे।

नया समाज कैसा होगा? इसके निर्माण में क्या बाधाएँ हैं? क्या हम इन प्रश्नों पर कभी विचार करते हैं? क्या हम हमारी आज की हालत को बदलने की कोई इच्छा रखते हैं?

पहले हम आज के समाज पर विचार करें। आज के समाज को बदलने की इच्छा क्यों होती है, इस पर ध्यान दें।

आज के समाज में व्यक्ति अपने स्वार्थ में डूबा हुआ है। वह धर्म या मजहब की बात तो बहुत करता है लेकिन उसका आचरण उससे अकसर उलटा होता है। उपदेश देता है सचाई और ईमानदारी का लेकिन व्यवहार में सचाई या ईमानदारी नहीं रखता। जो सच्चा और ईमानदार रहना चाहता है वह जब दूसरे को झूठ और बेईमानी पर चलते देखता है तो खुद भी उसी रास्ते पर चलने लग जाता है। और इस तरह एक कुचक्र बन जाता है झूठ और बेईमानी का। तब लोग कहते हैं कि समाज में भ्रष्टाचार फैल गया है। दुकानदार हो चाहे सरकारी कर्मचारी हो चाहे नेता हो, हर आदमी में यही होड़ लगी रहती है कि वह कितनी जल्दी धनवान बन जाए।

धनवान बनने की यह होड़ सैकड़ों-हजारों वर्षों से चली आ रही है। थोड़ी-सी सम्पत्ति बनते ही या राज-काज की ताकत हाथ में आते ही या, आजकल, नेतागीरी की ताकत प्राप्त होते ही आदमी दूसरों का शोषण शुरू कर देता है।

शोषण का अर्थ है—चूसना। खुद को लाभ हो, दूसरे की हानि हो। खुद को हक मिले, दूसरे का हक मारा जाए। दस रुपये का व्यापार करके सौ रुपये बना लो। सौ रुपये ब्याज पर देकर जल्दी-से-जल्दी उसके हजार रुपये बना लो। लाख हैं तो करोड़ कर लो। एक पैसा भी पास नहीं है, लेकिन कोई ताकत है सरकारी काम की, नेतागीरी के पद की, तो उस ताकत के बल पर जरूरतमन्द आदमी से पैसा ऐंठ लो। कोई इसे मेहनताना कहता है, कोई कमीशन कहता तो कोई इसे रिश्वत कहता है। पैसा पैदा करने पर नज़र रहती है सब की। आमतौर पर जितना समय लगता है मेहनत से पैसा कमाने में उससे कम समय में पैसा पैदा करने की इच्छा होती है तो वह हमें ग़लत तरीके अपनाने के लिए मजबूर करती है। ग़लत तरीकों से जो पैसा आता है वह शोषण का पैसा कहलाता है।

शोषण होता है तो उत्पीड़न होता है। हम उस पर ध्यान नहीं दें तो वह सब साधारण बात है। एक घर में मिठाइयों के थाल पड़े हों और दूसरे घर में दाना भी नहीं हो तो हम इसे भाग्य की बात कह कर साधारण बात बना सकते हैं। लेकिन यदि दूसरे की पीड़ा से पीड़ित होना अपना कर्तव्य मानें तो वह साधारण-सी बात हमारे लिए चिन्ता का विषय हो जाती है। क्या हम दूसरों की पीड़ा को दूर करने की चिन्ता करना मनुष्यता की निशानी मानना स्वीकार करेंगे?

तुलसीदासजी ने कहा था—परहित सरिस धरम नहीं भाई, पर पीड़ा सम नहीं अधमाई।

भर्तृहरि ने कहा था—

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्ति नाशनम्।।

(न मुझे राज्य की इच्छा है, न स्वर्ग की, न वापस इस धरती पर आने की। मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि प्राणी मात्र का दुःख दूर हो।)

मुहम्मद साहब ने कहा था—सबसे बड़ा मज़हब यही है कि तुम दूसरों के लिए वही चाहो जो तुम खुद के लिए चाहते हो। तुमको जिस बात से पीड़ा होती है समझ लो दूसरों को भी उससे पीड़ा होती है।

बाइबिल में भी लिखा है—जो व्यवहार तू दूसरों से पाना चाहता है वैसा ही व्यवहार तू दूसरों के प्रति कर।

और गांधीजी तो प्रार्थना में सबसे पहली प्रार्थना ही यही किया करते थे—वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीड़ पराई जाने रे।

अपने-अपने धर्मों से, अपने-अपने गुरुओं से, सन्तों से, शिक्षकों से और अपने-अपने अनेक नेताओं से हमने ऐसी कई अच्छी-अच्छी बातें बार-बार सुनी होंगी, पढ़ी होंगी और याद की होंगी। लेकिन युधिष्ठिर वाली बात हो गई—पाठ पढ़ा, याद भी किया पर आचरण में नहीं आया इसलिए कैसे कहें कि वह याद हो गया!

नया समाज एक ऐसा समाज होगा जिसमें मनुष्य से मनुष्य को पीड़ा नहीं होगी। मनुष्य मनुष्य का शोषण नहीं करेगा। हर मनुष्य एक दूसरे को अपने जैसा ही समझेगा। उनमें आपस में वैर नहीं होगा। असमानता नहीं होगी। प्रेम होगा। सहानुभूति होगी।

नया समाज पीड़ा की नींव पर नहीं, सुख और प्रेम की नींव पर खड़ा होगा। सचाई और ईमानदारी की नींव पर खड़ा होगा। ईर्ष्या-द्वेष नहीं होगा। शोषण और उत्पीड़न नहीं होगा। अन्याय नहीं होगा।

नए समाज की कल्पना का मोटा आधार लगभग ऐसा ही है। युगों-युगों से लोग लगभग ऐसा ही सोचते आए हैं। भारत में रामराज्य की कल्पना के पीछे भी यही भाव था। पश्चिमी देशों में जनतन्त्र और साम्यवाद या समाजवाद के पीछे भी यही भाव रहा। लेकिन समाज से असमानता गई नहीं। वैर-विरोध गया नहीं। सदाचार अभी बहुत दूर है।

हम बचपन से ही यदि इस ओर बढ़ना शुरू कर दें तो भर्तृहरि, मुहम्मद साहब, बाइबिल, गांधीजी और तुलसीदास के सपनों के नए समाज की रचना की ओर बढ़ने में कुछ तो सफलता पा ही लेंगे।

सभी के समान विकास का मार्ग

दलित वर्ग को हर जमाने में अवेतन श्रम करना पड़ा है। नए समाज का सपना देखने वाले हर नागरिक को मुनाफे के इस जन्मस्थान का जरूर पता होना चाहिए। आने वाला समाज शोषणविहीन समाज होगा। उसमें श्रमिक के श्रम का शोषण नहीं होगा। उसमें श्रमिक को आवश्यक श्रम से आगे 'अवेतन' और 'अतिरिक्त' श्रम नहीं करना पड़ेगा। समाज के हर सदस्य की नज़र इस पर रहनी चाहिए कि श्रमिक के श्रम का कितना भाग श्रमिक के अपने जीवन-निर्वाह के लिए लगता है और कितना भाग उत्पादन के साधनों के मालिकों के जीवन-निर्वाह के साधन तैयार करने में लगता है।

नागरिक का कर्तव्य है कि वह यह जाने कि किस प्रकार, किन-किन रूपों में, किन-किन छल-छद्मों से समाज के एक भाग का उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार आज भी कायम है। उत्पादन के साधनों पर समाज के एक भाग का जब तक यह एकाधिकार कायम है तब तक जो कार्ल मार्क्स ने कहा था वही होगा कि 'मजदूर चाहे स्वतन्त्र हो चाहे पराधीन, उसके लिए यह जरूरी बना रहता है कि उसके अपने जीवन-निर्वाह के लिए उसे जितने समय तक काम करना पड़ता है, उसके अलावा कुछ अतिरिक्त समय तक वह उत्पादन के साधनों के मालिकों के वास्ते जीवन-निर्वाह के साधन तैयार करने के लिए काम करे।'

'अतिरिक्त समय' में मजदूर अपने मालिक के लिए 'अतिरिक्त मूल्य' पैदा करता है जिसका एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा मुनाफा बन जाता है। श्रम का यह भाग 'अतिरिक्त श्रम' कहलाता है।

मालिक कौन होता है? जिसके पास पूँजी है वह मालिक। जीवन-निर्वाह के सभी साधनों का मालिक, कच्चे माल का मालिक और श्रम के औजारों का मालिक। और मजदूरों की उस विशाल संख्या का मालिक, जिन्हें मजबूर हो कर अपनी श्रम-शक्ति इन पूँजीपतियों के हाथ में बेच देनी पड़ती है। किसके एवज में? केवल इतनी-सी मात्रा के एवज में जो, अधिक-से-अधिक, केवल उनको जिन्दा रखने और हृष्ट-पुष्ट मजदूरों की एक नई पीढ़ी की परवरिश करने के लिए काफी हो। बस, इससे ज्यादा जो भी मूल्य है उनकी श्रमशक्ति का वह सब मालिक की पूँजी को बढ़ाता रहता है। पूँजी का पुनरुत्पादन नहीं होता। उसमें लगातार वृद्धि होती जाती है। गुणन होता जाता है।

ज्यों-ज्यों पूँजी बढ़ती है त्यों-त्यों सम्पत्तिविहीन वर्ग के ऊपर उसका प्रभुत्व भी बढ़ता जाता है। ज्यों-ज्यों प्रभुत्व बढ़ता है त्यों-त्यों मजदूर की प्रतिरोध शक्ति घटती है। उसकी प्रगति उसके श्रम की वेदना के प्रतिलोम अनुपात में होती है। और इस कारण यह प्रगति असल में उसकी प्रगति नहीं, दुर्गति ही होती है।

दुनिया के हर देश के नागरिक के लिए यह सोचने की बात है कि मालिक के मुनाफे के लिए मजदूर की दुर्गति का यह क्रम कैसे बन्द हो। हमारे लिए, हम सभी के लिए, हर दम सोचने की सबसे जरूरी बात यही है कि समाज के सभी सदस्यों का समान और मनुष्योचित विकास कैसे सम्भव हो।

समाज के सभी सदस्यों का, हर देश के हर नागरिक का, समान और मनुष्योचित विकास सम्भव बनाने वाली व्यवस्था जब तक कायम नहीं होगी तब तक पूँजीवाद बना रहेगा, साम्राज्यवाद बना रहेगा, अन्तरराष्ट्रीय युद्धों का कोई अन्त नहीं होगा।

जब तक समाज में आर्थिक असमानता लाने वाली व्यवस्था मौजूद है, शोषण है, उत्पीड़न है, तब तक सही अर्थ में कोई व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है। मुनाफाखोरी, जमाखोरी, कालाबाजारी, तस्करी जब तक समाज में चलती रहेगी, तब तक गरीबी को दूर करने की कोशिशें कभी सफल नहीं होंगी। इनका अन्त करने का एक ही उपाय है कि श्रमिक यह ठीक-ठीक समझ ले कि उसके श्रम का कितना भाग उसके लिए है और कितना भाग दूसरे द्वारा हड़पे जाने के लिए है। जीवन-निर्वाह के सभी साधनों पर, कच्चे माल पर और उत्पादन के औजारों पर स्वयं श्रमिकों का अर्थात् समाज का खुद का अधिकार होना जरूरी है। यह अधिकार कैसे प्राप्त हो, और प्राप्त होने के बाद, कैसे संचालित हो, इस पर भी हर नागरिक को विचार करना है। यह एक जटिल तन्त्र है पर इसी को जनतन्त्र कहते हैं, यही समाज तन्त्र है अर्थात् समाजवाद है। समाज के भाग्य पर निर्णय का अधिकार समाज के पास हो। समाज के सभी सदस्यों के समान और मनुष्योचित विकास का मार्ग समाज स्वयं तय करे। नागरिक के प्रमुख कर्तव्यों में से उसका एक यह कर्तव्य भी है कि पूँजी की सत्ता या पूँजी के प्रभुत्व से समाज का कोई निर्णय प्रभावित नहीं हो, इस पर वह पूरा-पूरा ध्यान रखे।

सत्ता में आते ही बुद्धि का रंग बदलने लगता है। पैसे की सत्ता से भी, पद की सत्ता से भी, उम्र की सत्ता से भी, सम्बन्धों की सत्ता से भी और सब से ऊपर राज की सत्ता से भी। इसलिए नागरिक को पहला काम यही करना चाहिए कि वह 'अराजकतावादी' बने। अर्थात् पद, पैसे, उम्र, सम्बन्ध व राज की सत्ता को कहीं भी जमने नहीं दे। किसी को किसी पर राज न करने दे। सत्ता पाकर राज करने की भावना शोषण और दमन को जन्म देती है। इसलिए कोई किसी पर राज करे इस सिद्धान्त का ही वह मूल रूप से विरोधी हो। आजीवन विरोधी रहे। याद रख कर विरोधी रहे। जाग कर, पूरी चेतना के साथ विरोधी रहे। और इस प्रकार राजसत्ता को भी इस तथ्य के प्रति जागरूक रखे, चेतन रखे, कि उसे किसी भी हालत में समाज पर राज नहीं करना है, समाज का काम करना है, वह काम करना है जिससे समाज के सभी सदस्यों के समान और मनुष्योचित विकास के रास्तों का निर्माण हो। एक नई सभ्यता का, एक नई संस्कृति का निर्माण हो। सभ्य नागरिक की कसौटी यही हो कि वह सत्ता या शक्ति पाकर राज नहीं करेगा, समाज का काम करेगा। समाज की सेवा करेगा। अपने हित में नहीं, परहित में लगेगा। परहित का अर्थ है—समाजवाद। अपने हित का अर्थ है—पूँजीवाद। पूँजीवाद स्वार्थी बनाता है। समाजवाद परमार्थी बनाता है। 'अराजकतावादी' का भाव जिसके अन्तःकरण में होगा वह अनुशासन भंग करने वाले की पीड़ा का कारण भी जल्दी समझेगा। हो सकता है जब अधिक लोग पीड़ा समझने वाले हो जाएँगे तब 'उच्छृंखल अराजकतावादी' होने की चाह कम हो जाएगी।

किसकी कमाई किसने खाई?

भक्तगण जब भगवान के मन्दिर की देहरी पर 'मत्था टेकते' हैं या 'ढोक' या 'धोक' लगाते हैं, तब उनका दिमाग जैसे एक पवित्र तालाब में डुबकी लगाकर बाहर निकलता है। उजला। चमकता हुआ। नया।

ध्यान लगाने वाले भक्त जब कुछ देर या काफी देर तक आँखें मूँदे बैठे रहने के बाद आँखें खोलते हैं तो उन्हें लगता है कि उनकी नज़रें धुल गई हैं और बाहर का दृश्य उजला है। चमकता हुआ। नया।

दिमाग साफ करने का और नज़रें धोने का अपना-अपना तरीका है।

साइकिल और कार धोने के भी होज पाइप अलग होते हैं। पानी की तीखी धार से कीचड़-मैल तत्काल हटता जाता है। पीछे से पानी पर दबाव (प्रेशर) डाल कर आगे की धार ज्यादा असरदार बनाने वाले नए-नए यन्त्र बन गए हैं। धार इतनी तेज कर दी जा सकती है कि जैसे कीचड़ पर तूफान टूट पड़ा हो।

दिमाग को तीखा, तेज और असरदार बनाने के लिए भी उस पर विचारों की या सवालों की ऐसी धार छोड़ी जा सकती है जो उस पर तूफान चढ़ा दे। दिमाग पर जमे हुए मिथ्या विश्वासों की गर्द की परतें उखाड़ने का एक यही उपाय है कि आदमी सोचे, सोचने वाले के पास बैठे और काम करे। काम करे और सोचे कि हमारी कमाई कहाँ गई? या, किसकी कमाई हमारी जेब में आई? अर्थात् किसकी कमाई किसने खाई? सोचो और सवाल करो, और इतने सवाल करो कि खुद के या मित्रों के माथे पर तूफान चढ़ा दो। हवा और पानी मिलकर तेजी से वार करें तो किसी कोने में धूल का कोई कण बाकी नहीं बचेगा। सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों को और समाज व्यवस्था के ताने-बाने को उलट-पुलट कर ध्यान से देखेंगे तो धूल-धक्कड़ सब साफ होने लगेगा। तीखी आलोचना के आगे मिथ्या विश्वासों की या असत्य की गर्द का एक अणु भी नहीं ठहरेगा। शर्त यही है कि हम अपने आपको अपनी आलोचना करने लायक बना लें। हमारा दुश्मन हम से दूर नहीं है। हम ही पूँजीपति हैं। हम ही शोषक हैं। हम ही समाज में असमानता लाने वाले हैं। हम ही राक्षसी वृत्ति वाले लोभी मालिक हैं, क्रूर शासक हैं। कौन जाने? हमको इतना साहस पैदा करना चाहिए कि हम सचाई का सामना कर सकें। हमको इतना सहृदय बनना चाहिए कि समाज के एक बड़े—बहुत बड़े भाग की वेदना को अपनी वेदना मान सकें। अपनी वेदना मानेंगे तभी उसे दूर करने की इच्छा होगी और दूर करने योग्य शक्ति भी पैदा करेंगे। संकल्प पैदा करेंगे।

हम जहाँ भी हैं, हमें अपने कार्य पर और व्यवहार पर इस दृष्टि से विचार करते रहना होगा। हम जहाँ भी हैं, हमें सावधान रहना होगा। ढिलाई से काम नहीं

चलेगा। एक पूरी समाज व्यवस्था बदलने का सवाल है। लगातार बदलते जाने का सवाल है। आज बदल दी कल काम खत्म, ऐसी क्रान्ति यह नहीं होगी। समझदार लोग हमेशा नई समझ की तलाश में रहेंगे। पढ़े-लिखे लोग हमेशा नया पढ़ने को, नया सीखने को तैयार रहेंगे। समाज में बदलाव लाना है तो वह लगातार चलेगा। लगातार प्रयत्न, लगातार संघर्ष, लगातार चौकसी और लगातार चिन्तन। कर्म और चिन्तन साथ चलने चाहिए। शरीर और आत्मा को अलग करने से कुछ मिलता हो तो इनको अलग करो। वास्तविकता यह है कि हम यह जानते हैं, फिर भी इस पर अमल नहीं करते। जानते हैं कि कहाँ हमको दयालु होना चाहिए पर वहाँ हम दयालु नहीं होते। जानते हैं कि कहाँ चौकस रहना चाहिए पर चौकस नहीं रहते। ग़लत आदमी को वोट दे आते हैं। साम्प्रदायिकता जहर है, यह जानते हैं फिर भी शादी उसी के घर करते हैं जो साम्प्रदायिकता का ज़हर फैलाता है। जात-पांत नहीं मानते फिर भी हिन्दू हैं तो मुसलमान के घर कम जाते हैं, और मुसलमान हैं तो हिन्दू के घर कम जाते हैं। अपने आप से पूछिए। मैं अपने साथ काम करने वालों में से भील-हरिजन-चमार या मुसलमान बन्धुओं के घर कितनी बार गया हूँ? उनके घर जाकर स्वेच्छा से माँग कर कभी नाश्ता किया है? उनसे स्नेह बढ़ाने का कोई उपक्रम कभी किया है? कोई कदम कभी उठाया है?

हम अपने चेहरे को दर्पण में देखा करें, कभी-कभी तो व्यक्तित्व में जैसे निखार आ सकता है वैसे ही अपने आचरण, धन्धे व समाज के प्रति अपने कर्तव्य को भी कभी दर्पण दिखा दिया करें तो समाज को ऊँचा उठते कोई देर नहीं लगेगी। हम नागरिक हैं तो नागरिक का कर्तव्य भी हमें निभाना चाहिए। नागरिक का मतलब है सभ्य। नागरिक का मतलब है सामाजिक। एक वक्त था जब मात्र नगर के लोग ही अपने आप को उल्लेखनीय व्यक्ति मानते थे। गाँवों में खेती करने वालों को, जंगल के जानवरों, आँधियों व सरदी-गरमी से जूझने वाले किसानों को कहाँ फुरसत थी कि अपने को कोई नाम देते, अपने लिए कोई गौरवपूर्ण बिल्ला बनाते। नगर वालों को फुरसत थी इसलिए सभ्य समझदार आदमी होने का गौरवपूर्ण बिल्ला भी उन्होंने अपने लिए सुरक्षित कर लिया। तब से वह सभी पर चिपका हुआ है। नगर में नहीं रहता तो भी नागरिक कहलाता है। यह बिल्ला कभी बदलेगा। पर बदलेगा तब बदलेगा। तब तक तो हमें इसी से काम लेना है। हालाँकि हम जानते हैं कि व्यापक अर्थ ले लेने पर भी लोग इसके मूल भाव को भूल नहीं सके हैं। इसलिए धीरे-धीरे मनुष्य को लोग 'मनुष्य' कहने में गौरव अनुभव करने लगे हैं। अब वे यह मानने लगे हैं कि नगर के बाहर गाँवों और जंगलों में रहने वाले भी सभ्य होते हैं, समझदार होते हैं, मानवीयता के गुणों से परिपूर्ण होते हैं। गाँव के लोग सचमुच गंवार नहीं होते। किसी को गंवार कहना या जंगली कहना अब

उचित नहीं माना जाता है। पहले लोग गाली देने के अर्थ में इन शब्दों का ('गंवार' और 'जंगली' का) प्रयोग किया करते थे। एक समय आएगा जब यह 'नागरिक' शब्द भी शब्दकोश के बाहर सुनाई पड़ना बन्द हो जाएगा।

न भी हो ऐसा, तो भी हमें इस पर कोई ज्यादा एतराज़ नहीं है। हम तो गाँव, शहर, जंगल, पहाड़ के कारण मनुष्य का मनुष्य से भेद करके चलने की शहरी दृष्टि के खिलाफ होना चाहते हैं। आखिर हम कहाँ से आए? गाँव से नहीं आए थे क्या? कभी किसान नहीं थे क्या? कभी जंगलों में लकड़ी काटने, छाल से चमड़ा रंगने या तीर-कमान से पंछी मार कर पेट भरने का काम नहीं करते थे क्या? इतिहास का अनुभव तो यही बताता है कि सभ्यता की पहली इकाई खेत होता है, खेत की बस्ती से ढाणी, टीला, कुनबा, कबीला, गोत्र, गाँव, नगर, और महानगर कुछ भी बढ़ा दीजिए, बढ़ते जाइए। पर यह मत भूलिए बिना खेत न नगर जिन्दा रह सकता है और न महानगर। इसलिए हमारी छोटी-सी बुद्धि में यह बात शीघ्र ही आ जानी चाहिए कि रंग, रूप, जाति, धर्म, पद, पैसा, भाषा, भूषा या स्थान भेद से मनुष्य-मनुष्य में भेद कभी नहीं करना चाहिए।

मनुष्य है तो मनुष्य को हम मनुष्यता के नाते भी उसका कर्तव्य याद दिला सकते हैं। लेकिन कर्तव्य की याद दिलाने के लिए कोई शब्द चलन में है तो उसका प्रयोग करने में भी कोई आपत्ति नहीं। वह शब्द 'नागरिक' है। नागरिक को नागरिकता की याद दिलाने में यह शब्द काम आता है। हम इसका सहारा लेकर खुद को पूछें कि क्या हम नागरिक के रूप में हमारे कर्तव्यों का पालन कर रहे हैं?

नागरिक शब्द का चलन ज्यादातर राजनीतिक सन्दर्भ में होता है। नागरिक उसे कहते हैं जो देश के शासन में भाग ले सकता है। वोट दे सकता है। नागरिक वह जो समाज की व्यवस्था के लाभ प्राप्त कर सकता है। नागरिक वह जो संसद, विधानसभा, नगरपालिका या पंचायत जैसी समाज की प्रतिनिधि सभाओं से सम्बन्ध रख सकता है, इनकी सेवाएँ प्राप्त कर सकता है।

लेकिन नागरिक वह भी है जो सड़क के बाईं ओर चले, स्वस्थ रहे, समाज के दूसरे सदस्यों के स्वास्थ्य को खतरा न पैदा करे। नागरिक वह भी है जो बीड़ी पीकर आपके मुँह पर धुआँ न फेंके, थूक न उछाले, उबासी या छींक आए तब मुँह पर रूमाल रख ले। क्यों? क्योंकि वह अपनी तरह दूसरे की असुविधा समझता है, दूसरों का सम्मान करता है, दूसरों का खयाल रखना चाहता है। यह शिष्टाचार है। यहीं से नागरिक के कर्तव्यों की शुरुआत होती है। लेकिन पड़ोसी से आगे और भी कई घर हैं, और भी कई गलियाँ, गाँव व शहर हैं देश में। देश की उन्नति का पूरा नक्शा हर नागरिक की आँखों के सामने रहना चाहिए।

अधूरे विश्वास-अंधविश्वास

दुनिया में विश्वास बिना काम नहीं चलता। विश्वास तो करना ही पड़ता है। एक दूसरे पर विश्वास करते हैं। माता-पिता और गुरु पर विश्वास करते हैं। अपने से बड़ों पर विश्वास करते हैं। सेठ-साहूकार कहता है तो उस पर विश्वास करते हैं। सरकार का आदमी तो हाकिम है। हाकिम का हुक्म तो मानना ही पड़ता है। उसकी हर बात पर विश्वास करना हमारा धर्म बन गया है।

धर्म की बात पर तो अविश्वास का सवाल ही नहीं है। पण्डित-पुजारी के मुख से धर्म बोलता है। पण्डित-पुजारी ने जो कही सो खरी। पुजारी, पादरी, मुल्ला-मौलवी, साधु, फकीर ने डराया तो डर गए। हिम्मत बँधाई तो हिम्मत रख ली।

हमको हर आदमी डराता है। माता-पिता डराते हैं। गुरुजी डराते हैं। सेठ-साहूकार डराते हैं। पण्डित-पुजारी, मुल्ला-मौलवी, साधु, फकीर भी डराते हैं। पण्डित के हुक्म से ग्रह-नक्षत्र भी डराते हैं। देवी-देवता भी डराते हैं। ओझे, सयाने और भोपे भी डराते हैं।

हमने क्या बिगाड़ा है इनका? ये लोग कदम-कदम पर हमें क्यों डराते हैं?

हम गरीब हैं। गाँव वाले हैं। गंवार हैं। अनपढ़ हैं। मैले कपड़ों वाले हैं। फटी जूती वाले हैं। साफ-सुथरे कपड़े पहनने वालों से हम डरते हैं। पढ़े-लिखे लोगों से हम डरते हैं। लोगों को मालूम हो गया है कि अच्छे कपड़ों का हम पर रोब पड़ता है। लोगों को मालूम हो गया है कि ज्ञान हमें भयभीत करता है। ऊँचे-ऊँचे शब्द और मन्त्र और विदेशी भाषा से हमारे प्राण सूखते हैं। इसलिए लोग हमें देख कर सीधी-सादी सरल भाषा नहीं बोलते। मन्त्र पाठ करते हैं। अंग्रेजी बोलते हैं। हम थोड़ा अंग्रेजी पढ़ लिए तो सरल अंग्रेजी नहीं बोलते, ऊँची अंग्रेजी बोलते हैं। मुग़ल काल था तो उर्दू-फारसी बोलते थे। रियासतों में भी उर्दू और अंग्रेजी दोनों का दबदबा था। आज हम आजाद हैं तो भी हमारी बोली में कोई हमसे बात नहीं करता क्योंकि उसका कपड़ा उजला है, क्योंकि उसका ओहदा ऊँचा है। मतलब सब का यही कि हम उनकी बात नहीं समझें और उनको ऊँचा मानें, उनसे दबते रहें।

अब आपको दूसरा पहलू दिखाऊँ। वे जो हमको अंग्रेजी बोल कर दबाते हैं वे खुद पण्डितजी से दबते हैं, पादरी व मौलवी से डरते हैं। डरते हुए मन्दिर जाते हैं, गिरजाघर व मस्जिद जाते हैं। डरते हुए पूजा-पाठ करते हैं, डरते हुए बाइबिल व कुरान पढ़ते हैं। अब यह भी कोई बात हुई? धर्म भी क्या कोई डरने की चीज है? ईश्वर या देवी-देवता या अल्लाह-खुदा से डर कैसा? ये सब तो हमें शक्ति

देने के लिए बने थे। शान्ति देने के लिए बने थे। लेकिन ये हमको डराते हैं। गरीब अनपढ़ गाँव वालों को ही नहीं, पढ़े-लिखे ऊँची-ऊँची डिग्रियों वाले शहर वालों को भी डराते हैं। बड़े-बड़े वैज्ञानिक और विद्वान ज्योतिषी से भाग्य पूछने जाते हैं। तरक्की के लिए, पैसे के लिए या पुत्र-प्राप्ति के लिए मनौती मनाते हैं। सन्तोषी माता के पोस्टकार्ड लिखते हैं। अपना मंगल करने के लिए। दूसरों को अमंगल के डर से दबाने के लिए। अब बोलो क्या करें? पढ़ाई-लिखाई और ऊँची शिक्षा भी बेकार गई। अपने पर भी इन्हें विश्वास नहीं रहा। खुद की मेहनत पर इन्हें विश्वास नहीं रहा। विश्वास किया भी तो अन्धविश्वास पर।

असल में यह सब अधूरी पढ़ाई के कारण होता है। अधूरी शिक्षा के कारण होता है। सच्ची शिक्षा ऊँची डिग्री से नहीं आती है। सच्ची मनुष्यता उजले कपड़ों से नहीं आती है। सच्चा बड़प्पन डराने में नहीं होता है। सच्ची पण्डिताई मन्त्रों में नहीं होती है। सच्चा इनसान भाग्य और भगवान का मुहताज कभी नहीं रहता है।

ये सब अधूरे विश्वास हैं। गाँव में गंवार और शहर में समझदार रहते हैं यह अधूरा विश्वास है। डिग्री और मन्त्र में ज्ञान और निरक्षरता में अज्ञान है, यह भी अधूरा विश्वास है। उजले कपड़ों में मनुष्य बड़ा और गन्दे कपड़ों में मनुष्य छोटा होता है यह भी अधूरा विश्वास है। सफाई, उजलापन, भाषा ज्ञान, विज्ञान, मन्त्र, कुरान, बाइबिल, गीता, वेद, शास्त्र, विद्वानों के लिखे ग्रन्थ और सरकारी आदेश व कानून-कायदे और विधान-संविधान का भी उपयोग है। इनके भी फायदे हैं। लेकिन हमारे अनपढ़ किसान, हमारे कम पढ़े गाँव वाले भाई को यदि डराने में इनका उपयोग होता है तो यह अधूरा विश्वास है, ग़लत विश्वास है, एकदम अंध-विश्वास है।

ये अंधविश्वास उतने ही खतरनाक हैं जितने सती में विश्वास, दहेज में विश्वास या धर्म के ढोंग में विश्वास।

हमने इस लेख में अधूरे और अंधविश्वासों के कई रूपों को देखा है। हमको हजारों वर्षों तक ठगा गया है। हमारा शोषण हुआ है। हमको तरह-तरह की पीड़ा पहुँचाई गई है। अब हम जागेंगे। अब हम समाज में 'हम साहब' बनकर अहंकारी नहीं बनेंगे। हम चियाँ-मियाँ छोटे-मोटे जैसे भी हैं, साथ मिलकर चलेंगे। शोषण-उत्पीड़न का ताना-बाना समझेंगे। समाज में परिवर्तन लाएँगे। नए समाज की रचना के लिए आपस में सहयोग करेंगे। साथ-साथ आगे बढ़ेंगे।